सर्वेश : त्रिपाठी

डा० सत्यप्रकाश शर्मा
एम० ए०, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न

धम्मपदं

[हिन्दी अनुवाद, व्याख्यात्मक टिप्पणी, समीक्षात्मक भूमिका सहित]

साहित्य भण्डार
शिक्षा साहित्य के मुद्रक एवं प्रकाशक
सुभाष बाजार, मेरठ-२५० ००२

धम्मपदं

(हिन्दी अनुवाद, व्याख्यात्मक टिप्पणी,
समीक्षात्मक भूमिका सहितम्)

सम्पादक एवं अनुवाद

डॉ॰ सत्यप्रकाश शर्मा

एम॰ ए॰, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न
संस्कृत विभाग
अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

साहित्य भण्डार

शिक्षा साहित्य के मुद्रक एवं प्रकाशक

सुभाष बाजार, मेरठ

प्रकाशक :
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष :
साहित्य भण्डार,
मेरठ–२
दूरभाष : 0121 {2656444 (कार्य०) / 2518754 (प्रति०)}

मूल्य : तीस रुपये (३०·००)

मुद्रक : देवी ऑफसेट प्रिन्टर्स
मेरठ।

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्भासंबुद्धस्स

विषय-प्रवेश

तथागत : एक परिचय

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में भारत के मानचित्र पर उत्तरी बिहार में शाक्य-गण नामक एक जनपद था जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। वहाँ के गण-राजा का नाम शुद्धोदन और महिषि का नाम माया था। कहा जाता है, गर्भावस्था में महिषी माया अपने मायके जा रही थीं। लुम्बिनी कानन में पहुँचने पर प्रसव पीड़ा हुई और वहीं एक बालक को जन्म दिया।[1] बालक का नाम कुमार सिद्धार्थ रखा गया जो आगे चलकर अपने गोत्र के कारण 'गौतम' और बुद्धत्व लाभ करने के उपरान्त 'बुद्ध' नाम से इस अवनि पर विख्यात हुआ। जन्म के एक सप्ताह बाद ही नवजात शिशु मातृ-स्नेह से वंचित हो गया, महिषी माया यह लोक छोड़ परलोक चली गईं। माँ के अभाव में बालक का लालन-पालन महिषी की बहिन महाप्रजावती गौतमी ने किया।

युवा होने पर कुमार सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा के साथ सम्पन्न हुआ। कुमार का वैवाहिक जीवन बड़े ऐश्वर्य और आनन्द के साथ व्यतीत होने लगा। कुछ समय बाद इस नवदम्पत्ति के जीवन को एक नन्हें से मुन्ना ने जन्म लेकर प्रणय-सुधा से सींच दिया। अब कुमार सिद्धार्थ को कमी ही किस बात की थी? अपने पिता के उत्तराधिकार के फलस्वरूप जनपद का राज्य, सुन्दर पत्नी और पुत्र राहुल—सब कुछ तो था।

कुमार सिद्धार्थ प्रारम्भ से ही बड़े विचारशील और उदासीन प्रकृति के थे। जीवन के दुःखों, पशुबलि और हिंसात्मक अनुष्ठानों से इनके हृदय पर गहरी

---

१. डा० उमेश मिश्र भारतीय दर्शन, पृ० १३४ पर यह दिनांक ५६३ ई० पू० वैशाख शुक्ल की पूर्णिमा है। किन्तु बलदेव उपध्याय ४४८ ई० पू० (५०५ वि० पू०) में बुद्ध का जन्म मानते हैं। देखिये उनका ग्रन्थ भारतीय दर्शन, पृ० ११७।

चोट पहुँची थी। एक बार कुमार सिद्धार्थ नगर का अवलोकन करने के लिए निकले। राजा ने नगर को खूब सजवाया और इस बात का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा गया कि कुमार के सामने ऐसा कोई दृश्य न आने पावे जिससे उसकी विरक्ति को प्रश्रय मिले। किन्तु होनहार बलवान् होती है। मार्ग में एक बीमार व्यक्ति दीख पड़ा जो असाध्य वेदना के कारण भूमि पर पड़ा हुआ तड़प रहा था। कुमार का मृदुल हृदय करुणार्द्र हो उठा और वह सारथि से पूछ बैठा कि इस व्यक्ति की ऐसी हालत क्यों है ? प्राज्ञ सारथि ने शाश्वत सत्य का उद्घाटन कर दिया। उसने कहा रोग संसार में प्रत्येक व्यक्ति को अपना शिकार बनाता है। कुमार की मन-प्रवृत्ति बदली। सारथि को घर वापिस चलने का आदेश हुआ। जब यह बात राजा को मालूम हुई तो उसे बड़ी निराशा हुई। वह अपने पुत्र को शक्तिशाली सम्राट् देखना चाहता था। अतः कुमार को सांसारिक विषयों में फँसाने के लिए दो और प्रयत्न किये गये। दूसरी बार अस्थि-पञ्जर-मात्र जराक्रान्त व्यक्ति और तीसरी बार रोते-बिलखते अपने सगे सम्बन्धियों द्वारा दाह-संस्कार के निमित्त ले जाया जाता हुआ शव। सांसारिक कष्टों की कल्पनामात्र से ही कुमार विचलित हो उठा। सारथि के शब्दों ने गुरुमन्त्र का काम दिया। अन्ततः, एक दिन अंधेरी रात में सुख की नींद सोती हुई प्रियतमा और माँ की छाति से चिपटे हुए अबोध बालक के अनुपम सौन्दर्य को एक बार देखकर दृढ़ निश्चय के साथ घर त्याग दिया। इस समय उसकी आयु उनतीस वर्ष की थी।

इसके बाद लगभग सात वर्ष तक कुमार ज्ञान और सत्य की खोज में इधर-उधर भटकता रहा। सर्वप्रथम कुमार 'आलार कालम' के यहाँ गया और 'क्या उत्तम है' ? ऐसा पूछने पर उत्तर प्राप्त हुआ 'अकिञ्चन्यायतन'। कुमार को सन्तुष्टि न हुई वह उद्रक रामपुत्र के पास पहुँचा। उन्होंने कुमार को 'नैवसंज्ञाना संज्ञायतन' को ही उत्तम बताया। पर कुमार को इससे भी सन्तोष नहीं हुआ। अनेक हठयोगियों के चक्कर में पड़ कर उसने घोर तपस्यायें कीं, शरीर को अनेक कष्टों से कृश बना दिया, पर उसे आत्मिक शान्ति न मिली। अन्ततः उसने यह मार्ग छोड़ दिया।

---

१. एकूनतिंसियो वयसा सुभद्द यं पब्बजि किं कुसलानुएसि,
महापरिनिब्बान सुत्त २२१।

अनेक प्रदेशों में भ्रमण करते-करते कुमार मगध के उरुवेला सेनानी निगम में जा पहुँचा। यहाँ के प्राकृतिक मनोरम दृश्यों को देखकर उसका चित्त प्रफुल्लित हो गया। यहीं अन्य पाँच भिक्षुओं से भी उसकी भेंट हुई। इन भिक्षुओं के साथ कुमार ने पुनः कठोर तपस्या प्रारम्भ कर दी, फिर भी उसे परितोष न हुआ। अब उसे दृढ़ विश्वास हो गया कि जान बूझकर शरीर को कष्ट देने मात्र से निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता। अतः यह मार्ग छोड़ अनशन समाप्त कर दिया। साथी पाँचों भिक्षु उसे पथभ्रष्ट समझ छोड़कर अन्यत्र चले गये। तपस्या के मार्ग से निराश अत्यन्त थका हुआ सिद्धार्थ एक दिन विशाल पीपल की सघन छाया में बैठा हुआ था। शीतल, मन्द समीर बह रही थी। प्रकृति अनुकूल थी, अतः चित्त प्रसन्न था। अब उसने स्वस्थ मन से अपने अनुभवों पर विचार करना प्रारम्भ किया। सात दिन और सात रात तक वह एक ही आसन पर ध्यानस्थ बैठा रहा। अन्त में उसे बोध हुआ, उसके अन्तः-करण में एक दिव्य ज्योति का प्रस्फुटन हुआ।

अब कुमार सिद्धार्थ महात्मा बुद्ध बन चुके थे। बोध-प्राप्ति के बाद बुद्ध गया से काशी की ओर चल पड़े। सारनाथ में उन पाँचों भिक्षुओं से भेंट हुई जो बुद्ध को उरुवेला में पथभ्रष्ट समझ अकेला छोड़ आये थे। बुद्ध ने कहा, 'भिक्षुओं! इधर सुनो। मैंने जिस अमृत को पाया है, उसका तुम्हें उपदेश करता हूँ। उपदेशानुसार आचरण करने पर जिस उद्देश्य के लिए कुलपुत्र घर छोड़ कर प्रब्रजित होते हैं उस अनुत्तम ब्रह्मचर्य फल को इसी जन्म में शीघ्र ही स्वयं जानकर विचारोगे।" उन भिक्षुओं ने उत्तर दिया—आवुस गौतम, उस साधना में, उस धारणा में, उस कठिन तपस्या में भी तुम आर्यों के ज्ञानदर्शन की पराकाष्ठा की विशेषता तथा उत्तर मनुष्य धर्म को नहीं पा सके फिर अब बाहुलिक, साधना भ्रष्ट बाहुल्यपरायण होते हुये तुम आर्य ज्ञानदर्शन की परा-काष्ठा उत्तर मनुष्य धर्म को क्या पाओगे? बुद्ध ने उन्हें विश्वास दिलाया और अपना उपदेश देते हुए पाँच काम गुणों का व्याख्यान किया और उन्हें उनसे विरत होते हुये सर्वप्रथम चार ध्यानों तथा क्रमशः आकाशानन्त्यायतन विज्ञाना-नन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन तथा संज्ञा-वेदयति-विरोध आदि को प्राप्त करते हुये प्रज्ञा द्वारा निर्वाण को प्राप्त करने के लिये कहा। इस प्रकार यहाँ पर बुद्ध का यह प्रथम उपदेश (धर्म चक्रप्रवर्तन) हुआ।"[1]

---

१. 'राहुल : पालि साहित्य का इतिहास' पृ० ७५

सारनाथ से चलकर महात्मा बुद्ध उरुवेला पहुँचे। एक हजार अग्निहोत्री ब्राह्मणों के नेता कश्यप ने वहाँ बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की। तदनन्तर भगवान् बुद्ध राजगृह पहुँचे। वहाँ मगध सम्राट श्रेणीय बिम्बसार ने भगवान् के दर्शन किये और उनके उपदेशों को श्रवण किया। यहीं भगवान् बुद्ध को दो मेधावी शिष्य सारिपुत्त और मोग्गलान मिले जिन्होंने बौद्ध धर्म के प्रसार में अद्‌भुत क्षमता का परिचय दिया, यद्यपि उनका प्रधान कार्यक्षेत्र मगध ही रहा, तथापि काशी, कोसल और वज्जि आदि जनपदों में भी पैदल घूम-घूमकर बुद्ध ने अपने सरल सिद्धान्तों का प्रचार किया। यही कारण है कि बुद्ध के जीवन काल में ही उनका सन्देश प्राय: सम्पूर्ण उत्तरी भारत में दूर-दूर तक फैल गया था।

महात्मा बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति के बाद लगभग ४५ वर्षों तक आर्य मार्ग का प्रचार किया। अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में वह राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर रहते थे। यहाँ से भगवान् ने अपनी अन्तिम यात्रा प्रारम्भ की। राजगृह से चलकर अम्बलट्ठिका, पाटलिग्राम, कोटिग्राम, नादिका (ज्ञातृका) होते हुये वैशाली पहुंचकर अम्बपाली गणिका के आम्रबन में ठहरे। दूसरे दिन गणिका ने उन्हें भोजन दिया और दक्षिणास्वरूप वह आराम भी बौद्ध-प्रमुख भिक्षुसंघ को प्रदान कर शिष्यात्व ग्रहण कर लिया।

वर्षा ऋतु आ चुकी थी। अत: तथागत ने भिक्षुओं को जगह-जगह वर्षा-वास करने का आदेश दिया। स्वयं वेलुवग्राम में ठहरे। यहाँ उन्हें पेचिश हो गयी, जो थोड़े ही दिनों बाद ठीक हो गयी। भगवान् चापालचैत्य में आनन्द के साथ विहरने लगे।। वहाँ उन्होंने आयु-संस्कार (जीवन शक्ति) छोड़ दी, भूचाल हुआ। भगवान् ने अपने देखे स्थानों को स्मरण करते हुये कहा— रमणीय है राजगृह का गोतमन्यग्रोध, चोरपपात, वैभार पर्वत की बगल में सप्तपर्णी गुहा, ऋषिगिरि की बगल में कालशिला, शीतवन के सर्पशौण्डिक पहाड़, तपोदाराम, वेणुवन का कलन्दक-निवाप, जीवकाम्रवन, मद्रकुक्षि मृगदाव। इन-इन स्थानों में भी, आनन्द, मैंने यह कहा था—आनन्द, जिसने चार ऋद्धिपाद साधे हैं, वह चाहे तो कल्पभर ठहर सकता है या कल्प के बचे काल तक। मैंने भी चार ऋद्धिपात साधे हैं, यदि मैं चाहूँ तो कल्पभर ठहर

सकता हूँ या कल्प के बचे काल तक। यदि आनन्द, तुमने याचना की होती तो तथागत दो ही बार तुम्हारी बात को अस्वीकार करते, तीसरी बार स्वीकार कर लेते। इसलिये, आनन्द, यह तुम्हारा ही दुष्कृत्य है, तुम्हारा ही अपराध है।

आनन्द, क्या मैंने पहले ही नहीं कह दिया—सभी प्रियों से जुदाई, वियोग तथा अन्यथाभाव होता है। आनन्द, सो वह कहाँ मिल सकता है कि जो उत्पन्न भूत, संस्कृत तथा नाशवान् है, वह नष्ट न हो। यह सम्भव नहीं। आनन्द, जो यह तथागत ने जीवन संस्कार छोड़ा, त्यागा तथा प्रतिनिःसृष्ट किया, तथागत ने बिल्कुल पक्की बात कही है। जल्दी ही आज से तीन मास बाद तथागत का परिनिर्माण होगा। जीवन के लिये तथागत क्या फिर वमन किये को निगलेंगे? यह सम्भव नहीं। आओ आनन्द, जहाँ महावन कूटागार शाला है वहाँ चलें।"[1]

महावन कूटागारशाला में पहुँचकर भगवान् ने भिक्षुओं को उपदेश दिया और धर्म का व्याख्यान भी किया। इसके बाद वह भण्डग्राम, आम्रग्राम और जम्बूग्राम होते हुये भोगनगर में पहुंचे जहाँ आनन्द चैत्य में विहार करते हुए उन्होंने बुद्धोपदेश की चार कसौटियाँ बतायीं। पावा में चुन्दकर्मारपुत्र के यहाँ भोजन करने के बाद उन्हें पुनः पेचिश हो गयी। पावा से कुसीनारा के मार्ग में भगवान् ने भविष्यवाणी की, 'आज रात के पिछले पहर कुसीनारा के उपवर्त्तन नामक मल्लों के शालवन में युगल शालवृक्षों के बीच तथागत का परिनिर्वाण होगा।' साथ ही चुन्दक के प्रति अपशब्द आदि न कहने की भी आज्ञा दी। हिरण्यवती नदी के उस पार कुसीनारा के शालवन में 'सुभद्र' को भगवान् ने अपने अन्तिम समय में भिक्षु-दीक्षा दी। अन्त में बुद्ध ने उपस्थित सभी भिक्षुओं से कहा—भिक्षुओ! अब मैं कहता हूँ, सारे संस्कार नाशवान् हैं, आलस्य छोड़कर जीवन-लक्ष्य का सम्पादन करो। यही तथागत का अन्तिम वचन है।

४८३ ई० पू०[2] बैसाख की पूर्णिमा का दिन था। ८० वर्ष की आयु में तथागत निर्वाण को प्राप्त हो गये।[3] भिक्षु महाकाश्यप ने उनकी चिता

---

१. राहुल : पालि साहित्य का इतिहास, पृ० ४१, ४२।

२. आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार ४२६ वि० पू०। देखिये उनका भारतीय दर्शन, पृ० ११७।

३. 'असीतिको मे वयो वत्तति'—महापरिनिब्बानसुत्त ७७।

प्रज्वलित की। द्रोण नामक किसी ब्राह्मण ने अजातशत्रु, लिच्छिवि, कपिलवस्तु, अल्लकप्प आदि राजाओं के दूतों के बीच भस्मावशिष्ट अस्थियाँ स्तूपों के निर्माणार्थ बांट दीं।

तथागत की शिक्षायें

तथागत करुणा की साक्षात् मूर्ति थे। उनका चरम लक्ष्य था नाना मत-मतान्तरों के कारण समाज में फैली हुई विषमताओं और दुष्कृतियों को दूर कर सच्चे आर्य धर्म की प्रतिष्ठा कर प्राणीमात्र का आत्यन्तिक कल्याण। उन्होंने किसी नवीन धर्म का प्रतिपादन न कर केवल सनातन काल से चले आ रहे आर्य धर्म का ही प्रचार किया। इसीलिये अपने सिद्धान्तों के सम्बन्ध में वे बार-बार यही कहते थे—'एस धम्मो सनन्तनो' अर्थात् यही सनातन धर्म है।

उनका अपने धर्म के प्रचार का ढङ्ग बड़ा ही सरल था। बिना किसी पूर्व पुरोगम के जहाँ भी किसी भिक्षु या जिज्ञासु ने प्रश्न किया, उसे उपदेश मिला। अधिकांश में उनके उपदेश पैदल चलते-चलते मार्ग में या किसी विहार में पदचारिका के समय होते थे। किसी उपासक के यहाँ भोजन करने के बाद भी उचित अवसर पर भगवान् श्रद्धालुओं को उपदेशामृत का पान कराते थे। उनके उपदेश-वाक्यों में अन्य धर्मावलम्बियों की आलोचना बड़े मार्मिक शब्दों में होती थी, किन्तु कटुता के लिये अवकाश लेशमात्र भी न था। जीवन की गहन अनुभूतियों का उन्हें साक्षात्कार था। नारायण बनने से पूर्व वह 'नर' की स्थिति में से गुजरे थे। अनेक जन्मों में बोधिसत्त्व-भाव को प्राप्त कर 'बुद्धत्व' तक पहुँचे थे। यह उनके अनेक जन्मों के सतत प्रयत्नों का ही सत्परिणाम था। उन्होंने अपने इन्हीं अनुभवों को जनसाधारण के समक्ष सीधे-साधे ढङ्ग से प्रस्तुत किया। वह आडम्बर से दूर थे। लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए जादू टोने का सहारा उन्होंने कदापि नहीं लिया।

ईश्वर के नाम पर यज्ञ में की जाने वाली हिंसा के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी उदार-मना बुद्ध यज्ञ में विविध देवताओं का आह्वान निरर्थक समझते थे। एक स्थल पर उन्होंने वासत्थ को सुन्दर उदाहरण द्वारा समझाया है—वासत्थ ! यह अचिरावती नदी किनारे तक भरी हुई जा रही है। किसी आवश्यक कार्यवश कोई मनुष्य उस पार से इस पार आना चाहता है, पर वह समुचित उद्योग न

कर उसी किनारे पर खड़ा-खड़ा यह प्रार्थना करे कि हे दूसरे किनारे, इसी पार आ जाओ। क्या इस प्रार्थना से यह किनारा उस पार चला जायेगा ? इसी प्रकार—हे वासत्थ, गयी विद्या सम्पन्न ब्राह्मण ब्राह्मणत्व के मूल गुणों को क्रिया रूप में अपने आप में न लाये और अब्राह्मणों के समान आचरण करे लेकिन मुख से प्रार्थना करे—मैं इन्द्र को बुलाता हूँ, मैं वरुण को बुलाता हूँ, तो क्या वे देवता उसके इस निमन्त्रण पर वहाँ आ जायेंगे ?[१]

अभिप्राय यह है कि तथागत की दृष्टि में केवल वेदपाठ, याज्ञिक अनुष्ठान, घोर तपस्या, नङ्गा रहना, जटा रखना आदि सर्वथा लाभहीन है। यह सब कुछ करने पर भी जब तक चरित्र शुद्ध नहीं हो जाता, प्राणीमात्र में समदृष्टि नहीं होती, तृष्णा शान्त नहीं होती, प्रमाद, लोभ, क्रोध तथा वाणी पर संयम नहीं किया जाता तब तक अनुष्ठान, पूजा-पाठ सब व्यर्थ है। उनका दृढ़ विश्वास था निःश्रेयस् की प्राप्ति न तो अत्यन्त 'भोग-विलास से और न अत्यन्त कठिन तपस्या से ही सम्भव है। इसीलिये भगवान् बुद्ध ने इन दो को हेय मानकर मध्यमा प्रतिपदा (मध्य मार्ग) का उपदेश दिया था—"भिक्षुओं ! इन दो चरम कोटियों का सेवन नहीं करना चाहिये—भोग-विलास में लिप्त रहना और शरीर को कष्ट देना। इन दो कोटियों का त्याग कर मैंने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया है जो आँख देने वाला, ज्ञान कराने वाला, शान्ति प्रदान करने वाला है।" इस मध्यम प्रतिपदा के आठ अङ्ग हैं—सम्यग् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् विचार और सम्यक् ध्यान। संक्षेप में संयमित शील इस धर्म का सार है।

शील के तीन विभाग हैं—क्षुद्र, मध्यम और महा। क्षुद्र शील के अन्तर्गत अदत्तादान त्याग, व्यभिचार त्याग, कठोर भाषण त्याग, चापलूसी त्याग, हिंसा त्याग, मध्यम शील के अन्तर्गत अपरिग्रह, जुआ आदि व्यसनों का त्याग, ऐश्वर्य-शय्या का त्याग, शृङ्गार त्याग, राजकथा-चोरकथा आदि व्यर्थ कथाओं का त्याग, व्यर्थ के वाद-विवाद का त्याग, दौत्य कर्म का त्याग, पाखण्डता, प्रगल्भता आदि दोषों का त्याग और महाशील के अन्तर्गत अगविद्या, स्वप्न-कथन, भूत-प्रेत-गारुड़ी विद्याओं का त्याग, फलित ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र का त्याग,

---

१. देखिये दीघनिकाय का तेविज्जसुत्त।

कविता आदि करने से जीविका चलाने का त्याग आदि का विधान है। इन सब प्रपञ्चों से दूर रहने वाले मनुष्य का सादा जीवन क्या किसी योगी के जीवन से कम होगा ? क्या वह सच्चे सुख और शान्ति को प्राप्त न कर सकेगा ? जब मानव की मङ्गलमयी भावनायें अपने पराये, देश-काल आदि के क्षुद्र बन्धनों से ऊपर उठकर सार्वभौम, सार्वयुगीन और प्राणीमात्र में अपनत्व से ओतप्रोत होंगी तभी उसे सच्चा सुख प्राप्त होगा। छान्दोग्य उपनिषद् "यो वै भूमा तत्सुखम्" सिद्धान्त इसकी पुष्टि करता है।

भगवान् बुद्ध के उपदेश लोकोत्तर नहीं, व्यावहारिक थे। सिगालोवादसुत्त में इन उपदेशों की व्यावहारिकता अधिक स्पष्ट हो गयी है। इस सुत्त में बताया गया है कि चार कर्मक्लेशों—हिंसा, चोरी, व्यभिचार और झूठ के नाश से मनुष्य इस लोक तथा परलोक में भी विजेता के समान अनुभव करता है। सम्पत्ति नाश के छः कारण बताये गये हैं—मादक द्रव्यों का सेवन, बाजार की सैर, नृत्य-वाद्यादि, जुआ, दुर्जन की मैत्री और प्रमाद। इनमें से एक-एक अनर्थोत्पादक है। चार मित्र रूप में शत्रु हैं—पराया धन चुराकर लाने वाला, अधिक बातें बनाने वाला, सदा मीठा बोलने वाला और हानिकर बातों में सहायक। सच्चा मित्र हमेशा उपकारी, सुख-दुःख में समान रहने वाला, अर्थ प्राप्त कराने वाला और अनुकम्पक होता है। इस संसार में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं—(१) वे जो बुरे होते हुये भी यह नहीं जानते कि उनमें बुराई है, (२) वे जो बुरे होते हुये भी यह जानते हैं कि उनमें बुराई है, (३) वे जो अच्छे होते हुए भी यह नहीं जानते कि उनमें अच्छाई है और (४) वे जो अच्छे होते हुये यह जानते हैं कि उनमें अच्छाई है। इनमें से पहले प्रकार के मनुष्य सबसे हीन और चौथे प्रकार के सबसे उत्तम होते हैं।

ब्राह्मण धर्म में प्रचलित दिङ् नमस्कार का व्याख्यान भगवान् बुद्ध ने विशुद्ध व्यवहारपरक किया है। उनके इस व्याख्यान के अनुसार माता-पिता पूर्व दिशा, आचार्य दक्षिण दिशा, पुत्र-स्त्री पश्चिम दिशा, मित्र-अमात्य उत्तर दिशा, दास-नौकर नीचे की दिशा और श्रमण-ब्राह्मण ऊर्ध्व दिशा है। इन्हीं की सेवा दिशा नमस्कार। दिशायें तो कल्पनामात्र हैं, शून्य हैं। उन्हें प्रणाम करना तो प्रलपनमात्र है।

उपर्युक्त सभी गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को तथागत देवता मानते थे और उनमें शून्य को शव। उन्होंने गृहस्थों को चार प्रकार के संवास बताये हैं[1]— (१) शव का शव के साथ। (२) शव का देवी के साथ। (३) देव का शव के साथ। (४) देव का देवी के साथ। पति तथा पत्नी दोनों के दुराचारी होने पर दोनों का एक साथ निवास शव का शव के साथ संवास है। पति दुराचारी किन्तु पत्नी साध्वी है तो शव का देवी के साथ संवास होता है। इसी प्रकार यदि पति शीलवान् और पत्नी दुराचारिणी है तो उनका संवास देव का शव के साथ संवास और यदि पति पत्नी दोनों ही शीलवान् हैं तो देव का देवी के साथ संवास बताया गया है। इसीलिये भगवान् का उपदेश था—

"अतीत का अनुगमन मत करो और न भविष्य की ही चिन्ता में पड़ो। जो अतीत है वह नष्ट हो गया और भविष्य अभी आया नहीं। तो फिर रात-दिन निरालस्य तथा उद्योगी होकर वर्तमान को ही सुधारने का प्रयत्न करो[2]।" धम्मपद[3] बुद्ध शासन के रहस्य को पापाकरण, पुण्यसंचय और चित्तपरिशुद्धि— इन तीन विशेषताओं में व्यक्त करता है।

भगवान् बुद्ध दरिद्रनारायण के उपासक थे। एक बार मलमूत्र में सने रोगी भिक्षु को अपने हाथ से नहला कर उन्होंने भिक्षुओं को सम्बोधित किया था— "भिक्षुओं ! जो मेरी सेवा करना चाहे, वह रोगी की सेवा करे।"[4] मनुष्यमात्र में उनकी समान बुद्धि थी। उनकी दृष्टि में कोई भी मनुष्य अस्पृश्य या नीच नहीं था। वह जन्म से नहीं, कर्म से 'जाति' मानते थे। उनका सिद्धान्त था "प्राणियों की जातियों में एक दूसरे से जाति का भेद है, जैसे तृण और वृक्ष में, कीट, पतंग और चींटी, छोटे-बड़े, चार पैर वाले, जलचर, नभचर पक्षियों आदि में जाति का लिंग विद्यमान है, पर इस प्रकार का जाति लिंग मनुष्यों में अलग-अलग नहीं है। मनुष्य के किसी अंग को लेने पर भी यह जातिभेदक लिंग नहीं प्राप्त होता। मनुष्यों में भेद केवल संज्ञा में है। अतः कर्म के अनुसार जो गोरक्षा

---

१. देखिये—अंगुत्तर निकाय का पठमसंवाससुत्त।
२. देखिये—मज्झिमनिकाय का भद्देकरत्तसुत्त।
३. गाथा संख्या १८३।
४. विनयपिटक का चीवरस्कन्धक।

से जीविका करता है वह कृषक है, जो शिल्प से जीविका करता है वह शिल्पी है, जो व्यापार से जीविका अर्जित करता है वह वैश्य है।"[1]

भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों में सूक्ष्म और जटिल दार्शनिक विचारों को आवश्यकता से अधिक स्थान नहीं दिया और न ही लोगों को अपने अगाध वैदुष्य या भव्य व्यक्तित्व से धर्षित कर बलात् अपनी ओर आकृष्ट किया। उनका दृष्टिकोण नितान्त बुद्धिवादी था। किसी वस्तु को बिना उसकी परीक्षा किये ही मानने के पक्ष में वे न थे। एक बार कोसल के केसपुत्त निगम में कालामों ने उनसे प्रश्न किया—"भन्ते! जो भी श्रमण-ब्राह्मण यहाँ आते हैं, अपने मत की प्रशंसा और अन्य मतों की निन्दा कर अन्य मतों को छुड़वाते हैं। तब हमें संशय होता है कि इनमें से कौन सच कहता है और कौन झूठ कहता है?" इस पर बुद्ध ने उत्तर दिया—"संशय योग्य स्थान में तुम्हें संशय हुआ है। कालामो! आओ, न अनुश्रवण से और न परम्परा से ही विश्वास करो। मान्यशास्त्र की अनुकूलता से भी विश्वास मत करो। न तर्क से, न न्यायहेतु से, न वक्ता के भव्य व्यक्तित्व से और न परम्परा से ही विश्वास करो। मान्यशास्त्र की अनुकूलता से भी विश्वास मत करो। न तर्क से, न न्यायहेतु से, न वक्ता के भव्य व्यक्तित्व से और न 'यह हमारा गुरु है' इस भावना से विश्वास करो। कालामो! जब तुम स्वयं ही यह जान लो कि अमुक धर्म अकुशल, सदोष, विज्ञजन निन्दित और अहितकर होगा, तो उसे त्याग दो।"[2] उनके द्वार उपदिष्ट धर्म साधन था साध्य नहीं। उनकी स्पष्ट उद्घोषणा थी—"भिक्षुओं! मैं बेड़े की भाँति निस्तरण के लिये तुम्हें धर्मों का उपदेश करता हूँ, पकड़ रखने के लिये नहीं। धर्म को बेड़े के समान उपदिष्ट जानकर तुम धर्म को भी छोड़ दो, अधर्म की तो बात ही क्या?"[3]

धन्य हैं ऐसे समाज-सुधारक, परम कारुणिक उदारचेता तथागत बुद्ध। अपने इन्हीं लोकोत्तर गुणों के ही कारण तो उन्हें हिन्दुओं के 'दशावतारों' में सादर स्थान प्राप्त हुआ। जैनियों के २४ तीर्थङ्करों की भाँति चौबिस बुद्धों की कल्पना की गयी। यही नहीं, ईसा की प्रथम शताब्दी में ही 'वैपुल्यवादी (वेतुल्यवादी) अन्धक बुद्ध के व्यवहार को लोकोत्तर मानने लगे थे (कथावत्थु

---

१. देखिये—मज्झिमनिकाय का वासेट्ठसुत्त।

२. देखिये—अंगुत्तरनिकाय का केसपुत्तिसुत्त।

३. देखिये—मज्झिमनिकाय का अलगद्दूपमसुत्त।

२।८]. उनका विश्वास था कि बुद्ध मनुष्य लोक में आकर ठहरे ही नहीं (१८।१) और न उन्होंने धर्म का उपदेश ही किया (१८।२)।"[1]

बौद्धसंघ

महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म के प्रचारार्थ एक संघ की स्थापना की। इस 'संघ' की कार्यविधि तत्कालीन गणराज्य पद्धति के ही अनुरूप थी। अलग-अलग प्रदेशों में अलग-अलग 'संघ' थे जो अपने आप में पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता सम्पन्न थे। प्रत्येक भिक्षु को 'संघ' के नियमों का कठोरता से पालन करना होता था। वज्जिसंघ को भगवान् बुद्ध ने निम्नलिखित सात अपरिहारणीय धर्मों का उपदेश दिया था। ये ही धर्म या नियम बौद्धसंघ के लिये भी उपदिष्ट हैं—

१. एक साथ इकट्ठे होकर यदा-कदा सभायें करते रहना।

२. एक होकर बैठक करना, एक हो उत्थान करना और एक हो संघ-कार्यों का सम्पादन करना।

३. संघ द्वारा विहित का उल्लंघन न करना, अविहित का अनुसरण न करना, शाश्वत नियमों का सदा पालन करना।

४. बड़े, धर्मानुरागी, चिरप्रव्रजित, संघनायक स्थविर भिक्षुओं का सत्कार करना।

५. तृष्णा से दूर रहना।

६. अरण्य में वास करना।

७. ब्रह्मचर्य का पालन करना।[2]

भिक्षुसंघ के सदस्यों के बैठने के लिये पृथक्-पृथक् आसन होते थे। 'आसन प्रज्ञापक' नामक कर्मचारी आसनों की व्यवस्था करता था। संघ की बैठक के लिए कम से कम बीस भिक्षुओं की उपस्थिति आवश्यक थी। 'गणपूरक' कर्मचारी कोरम पूर्ति का प्रयत्न करता था। किसी भी प्रस्ताव की स्वीकृति के लिये बहुमत आवश्यक था। बौद्धग्रन्थों में 'वोट' के लिये 'छन्द' और बैलट-पेपर

---

१. राहुल: पुरातत्त्वनिबन्धावलि, पृ० १०८ की पाद-टिप्पणी से साभार उद्धृत।

२. विशेष विवरण के लिये देखिये—महापरिनिब्बानसुत्त।

के लिये 'शलाका' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'शलाका-ग्राहक' कर्मचारी वोट एकत्रित करता था। चुल्लवग्ग में वोटिंग-प्रक्रिया का विशद वर्णन प्राप्त होता है। वोटिंग की तीन पद्धतियाँ थीं—गूढ़क, सकर्णजल्पक और विवृत्तक।

संघीय भिक्षुओं के लिए आचार-संहिता का पालन आवश्यक था। पाराजिक[1] कर्म करने पर भिक्षु सदा के लिये संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता था। तेरह प्रकार के संघादिसेस कर्मों के लिये कुछ अवधि के लिये भिक्षु संघ से बाहर निकाल दिया जाता था।

१. जानबूझ कर वीर्यपात करना।
२. कामवासना से स्त्री स्पर्श।
३. कामवासना से स्त्री-वार्तालाप।
४. अपनी प्रशंसा कर स्त्री को बुरे उद्देश्य से अपनी ओर आकृष्ट करना।
५. विवाह करवाना।
६. संघ की अनुमति के बिना अपने लिये बिहार बनवाना।
७. संघ की अनुमति के बिना बड़ा बिहार बनवाना।
८. क्रोध के अकारण ही भिक्षु पर पाराजित दोष लगाना।
९. पाराजिक-समान अपराध लगाना।
१०. संघ में फूट डालने का प्रयत्न करना।
११. फूट डालने वाले का साथ देना।
१२. गृहस्थ की अनुमति के बिना उसके घर में प्रवेश करना।
१३. चेतावनी देने पर भी संघ का आदेश न सुनना।

उपोसथ का विधान भिक्षुओं के लिये आवश्यक था। एक तले का जूता श्रेष्ठ समझा जाता था। १. आराम की वस्तुयें, २. विहार की वस्तुये, ३. मंच, गद्दा, तकिया, ४. लौह-पात्र और ५. रस्सी, बांस, लकड़ी तथा मिट्टी के बर्तन विहार की अविभाज्य वस्तुयें थीं। सांप, सिंह व्याघ्र आदि का मांस गृहस्थों के लिये भी अभक्ष्य था। इसके अतिरिक्त तीस 'निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा' '९२ पाचित्तिया धम्मा', 'चार पटिदेसनिया धम्मा', '७५ सेखिया धम्मा' और 'सात अधिकरण समथा धम्मा' नियमों का विशद वर्णन विनयपिटक में हुआ।

---

१. मैथुन, चोरी, हत्या और सत्कार प्राप्त्यर्थ सिद्धिका प्रदर्शन ये चार पाराजिक कर्म हैं।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि संघ के नियम अत्यधिक कठोर थे। अतः कुछ भिक्षुओं में असन्तोष भी व्याप्त हो गया हो तो आश्चर्य नहीं। यही कारण है कि तथागत के महापरिनिर्वाण के अनन्तर एक भिक्षु यह भी कहते सुना गया "अच्छा हुआ, वह मर गया। अब हम सुखपूर्वक जैसा भी चाहेंगे, रहेंगे, विहरेंगे।"

बौद्धमत

बुद्धत्व लाभ करने के बाद तथागत ने चार आर्यसत्यों को संसार-सागर में डूबते-उतराते आर्त्त लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया। उनका कटु अनुभव था कि संसार दुःखमय है, कोई भी जीव दुःख-मुक्त नहीं है। यह दुःख सहेतुक है। जब दुःख सहेतुक है तो उसका नाश भी सम्भव है। दुःखनाश के उपाय अशक्य नहीं हैं तो फिर क्यों न दुःख से मुक्त हों? न केवल भगवान् बुद्ध अपितु सभी दर्शन दुःख का मूल कारण अविद्या को ही मानते हैं। बौद्ध दर्शन की 'अविद्या' वेदान्त की 'माया' की ही भाँति अनिर्वचनीय शक्ति से सम्पन्न है। अविद्या की इसी शक्ति के फलस्वरूप कारणों की एक परम्परा बन जाती है जिसका प्रत्येक अंग कार्य कारण रूप से सम्बद्ध है। इस परम्परा को प्रतीत्यसमुत्पाद (एक वस्तु की उपलब्धि होने पर दूसरी वस्तु की उत्पत्ति) कहा जाता है। इसका स्वरूप निम्नलिखित है—

(१) अविद्या से संस्कार, (२) संस्कार से विज्ञान, (३) विज्ञान से नामरूप, (४) नामरूप से षडायतन, (५) षडायतन से स्पर्श, (६) स्पर्श से वेदना, (७) वेदना से तृष्णा, (८) तृष्णा से उपादान (राग), (९) उपादान से भव, (१०) भव से जाति, (११) जाति से जरा, (१२) जरा से करण। संसारचक्र इन्हीं कार्यकारण परम्परा की परम्परा से चलता रहता है। जब तक जीव इस प्रतीत्य समुत्पाद से मुक्त नहीं होता, उसके दुःख का नाश नहीं होता। संसार की सभी वस्तुयें अनित्य हैं। दुःख भी अनित्य है। उससे मुक्ति पाना असम्भव नहीं है। बुद्ध ने स्वयं कहा था—

चतुन्नं अरिआ सच्चानं यथाभूतं अदस्सना।
संसरितं दीघमद्धानं तासु तास्वेव जातिसु।
तानि एतानि दिट्ठानि भव नेत्ति समूहता।
उच्छिन्नं मूलं दुक्खस्स नत्थि दानि पुनब्भवोति॥

(महापरिनिब्बानसुत्त, २।४९)।

दुःख-निरोध के लिये तथागत ने पंचशील (अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य, अमद्यपान) और अष्टांग मार्ग का उपदेश दिया। इन नियमों का पालन करते-करते मनुष्य क्रमशः अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है, प्रत्येक स्थिति में वह दोषों से मुक्त होना चाहता है। बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व उसकी तीन विशेष अवस्थायें होती हैं—श्रावक, प्रत्येक बुद्ध और बोधिसत्त्व। प्रथम अवस्था में साधक त्रिविध क्लेशों से युक्त तो रहता है किन्तु बुद्धत्व लाभ की प्रबल इच्छा उसमें होती है, अतः आचार्य के समीप जो उपदेश ग्रहण करता है। 'प्रत्येक बुद्ध' वह व्यक्ति कहलाता है जिसे अपने पूर्व जन्मों के संस्करणों के कारण स्वतः ही ज्ञानचक्षु का उन्मीलन हो जाने के कारण आचार्य के उपदेशों का आश्रय नहीं लेना पड़ता। वह ज्ञानी तो हो जाता है पर उसमें दूसरों के उद्धार की शक्ति नहीं रहती। ऐसा साधक द्वन्द्वमय जगत् से दूर हटकर निर्जन स्थान में वास करता हुआ निर्वाण सुख का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। बोधिप्राप्ति की इच्छा वाला व्यक्ति 'बोधिसत्त्व' कहलाता है। इस अवस्था को प्राप्त हुये साधक का जीवन-लक्ष्य नितान्त उदात्त होता है, वह न केवल अपना कल्याण चाहता है, अपितु प्राणिमात्र का दुःख दूर करने के लिये भी सदैव तत्पर रहता है।

हीन सम्प्रदाय बुद्धत्वप्राप्ति तक श्रावक की चार भूमियाँ स्वीकार करता है—

(क) स्रोतापन्न—इस भूमि में श्रावक की चित्तवृत्ति संसार से विरक्त होकर निर्वाण की ओर उन्मुख हो जाती हैं। उसके तीनों संयोजनों का क्षय हो जाता है। अतः उसे अर्हत् पद तक पहुँचने के लिये केवल सात बार जन्म लेना होता है।

(ख) सकृदागामी—यह भूमि स्रोतापन्न की फलावस्था से अर्हत् की मार्गावस्था तक रहती है। इस भूमि में आस्रवों का नाश ही श्रावक का प्रधान लक्ष्य रहता है, इसलिये उसे 'कायसक्खी' की संज्ञा मिलती है। सकृदागामी संसार में एक ही बार आता है।

(ग) अनागामी—इस भूमि में श्रावक उपर्युक्त दोनों बन्धनों से मुक्त होकर आगे बढ़ता है। जीवन क्षय होने पर उसे पुनः भव-चक्र में आने की आवश्यकता नहीं रहती।

(घ) अर्हत्—इस भूमि में आस्रवों का नितान्त क्षय हो जाता है, तृष्णा

शान्त हो जाती है। वह व्यक्तिगत कल्याण-साधन में तत्पर रहता है किन्तु अन्यों को निर्वाण प्राप्त कराने में सक्षम नहीं होता। हीनयान बौद्धों का चरम लक्ष्य यही है।

महायान सम्प्रदाय में दश भूमियाँ स्वीकृत की गयी हैं—

(१) मुदिता—इस भूमि में 'करुणा का उदय' अपनी विशेषता रखता है, लोक-कल्याण की प्रबल इच्छा उसके हृदय में होती है।

(२) विमला—त्रिविध पापों का नाश तथा शीलपारमिता का अभ्यास।

(३) प्रभाकरी—काम तथा तृष्णा का क्षय, संस्कृत धर्मों का नाश और धैर्यपारमिता का अभ्यास।

(४) अर्चिष्मती—दया, मैत्रीभाव का उदय, अष्टांग-मार्ग और वीर्यपारमिता का अभ्यास।

(५) सुदुर्जया—समत्व भाव, विरक्ति। ध्यानपारमिता का अभ्यास।

(६) अभिमुक्ति—प्रज्ञापारमिता का विशेष अभ्यास।

(७) दूरंगमा—ज्ञान-मार्ग में अग्रसर हो 'ज्ञत्व' की प्राप्ति।

(८) अचला—साधक जगत् को तुच्छ और अपने को सबसे परे समझता है।

(९) साधमती—लोककल्याण के उपाय और धर्म का उपदेश।

(१०) धर्ममेघ—समाधिनिष्ठ और बुद्धत्व प्राप्ति। इसके बाद निर्वाण की प्राप्ति होती है।[1]

बौद्धमत के सम्प्रदाय

प्रारम्भ में ही इतना स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि तथागत ने आध्यात्मिक प्रश्नों का साक्षात् समाधान नहीं किया। जब कभी उनसे आत्मा आदि के सम्बन्ध में प्रश्न किये गये, उन्होंने मौन साध लिया। ठीक भी है, कारुणिक भगवान् लोगों को तात्त्विक चिन्तन के झमेले से दूर रखकर विशुद्ध व्यावहारिक धर्म का उपदेश करते थे। फिर भी अनेक दार्शनिक समस्यायें संघीय भिक्षुओं के मन में उठती ही होंगी जिन पर संघ के लोग समय-समय पर चिन्तन करते ही रहे होंगे। भगवान् के निर्वाण के बाद संघ के भिक्षुगण

---

१. विशेष विवरण के लिये देखिये—असग द्वारा प्रणीत दशभूमिशास्त्र।

अपनी-अपनी रुचि के अनुसार बुद्ध-वचनों का अर्थ लगाने लगे, जिसके फलस्वरूप बौद्धमत के प्रारम्भ में ही दो भेद हो गये—महासांघिक और स्थविरवाद। महासांघिक भिक्षु तर्क का आश्रय लेने वाले विकसनशील प्रणाली के समर्थक थे, किन्तु स्थविरवादी एक तरह से रूढ़िवादी थे; परम्पराओं में लेशमात्र भी परिवर्तन उन्हें मान्य न था। आपसी छोटे-छोटे मतभेदों को लेकर जो अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

महासांघिकों को अपने प्रगतिशील विचारों के कारण समाज में विशेष आदर प्राप्त था। अतः स्थविरवादी इनसे ईर्ष्या करने लगे। दोनों में पारस्परिक वैमनस्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। वैशाली की सभा में स्थविरवादियों ने महासांघिकों को तिरस्कृत कर संघ से बहिष्कृत कर दिया। महासांघिकों ने भी बदला लेने की भावना से स्थविरवादी सम्प्रदाय को हीनयान (निम्न मार्ग) और अपने सम्प्रदाय को महायान (प्रशस्त मार्ग) कहना प्रारम्भ कर दिया। आगे चलकर हीनयान सम्प्रदाय वैभाषिक और सौत्रान्तिक तथा महायान सम्प्रदाय योगाचार (विज्ञानवाद) एवं माध्यमिक (शून्यवाद) दो-दो भागों में विभक्त हो गये;

वैभाषिक मतानुयायी जगत् तथा चित्तसन्तति--दोनों की सत्ता को पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र मानते हैं। जगत् की बाह्य सत्ता है। दैनन्दिन व्यवहार में बाह्य-जगत् की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' के उद्घोषक आचार्य शङ्कर भी जगत् की व्यावहारिक सत्ता को नकार नहीं सके। अतः वैभाषिक लोग बाह्यार्थ को प्रत्यक्षरूपेण सत्य मानते हैं। यह 'सत्ता' प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, अतः क्षण भंगवाद के वे समर्थक भी है। इसके विपरीत सौत्रान्तिक बाह्यार्थ को प्रत्यक्षसिद्ध न मानकर अनुमान द्वारा सिद्ध मानते हैं। उनका सिद्धान्त है कि चित्त में नाना आकारों की उत्पत्ति और नाश होता रहता है। ये 'आकार' चित्त के अपने धर्म न होकर बाह्य वस्तुओं के होते हैं। इन्हीं आकारों के द्वारा बाह्यसत्ता का ज्ञान हमें अनुमान द्वारा प्राप्त होता है। वैभाषिक 'चित्तनिरपेक्षा सत्ता' का अनुमोदक है, सौत्रान्तिक 'चित्तसापेक्ष सत्ता' का।

बौद्धमत

महासांघिक | स्थविरवाद

महासांघिक:

१. मूल महासांघिक,
२. एक व्यावहारिक,
३. लोकोत्तरवाद,
४. कौरुकुल्लका,
५. बहुश्रुतीय
६. प्रज्ञप्तिवाद
७. चैत्यशैल,
८. अवरशैल,
९. उत्तरशैल ।

स्थविरवाद:

हेमवत | सर्वास्तिवाद

सर्वास्तिवाद:

१. वात्सीपुत्र,
२. धर्मोत्तर,
३. भद्रयानिक
४. सम्मितीय,
५. छान्दागारिक
६. महाशासक,
७. धर्मगुप्तिक,
८. काश्यपीय,
९. सौत्रान्तिक ।

योगाचार मत में भौतिक जगत् नितान्त मिथ्या है। इस मत में बाह्य सत्ता को स्वीकार न कर 'चित्त' को ही एकमात्र सत्य पदार्थ माना गया है। चित्त, मन, विज्ञप्ति और विज्ञान एक ही अर्थ के पर्याय हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार स्वयं प्रकाशवान्, परस्पर भिन्न किन्तु वासना-संक्रमण के कारण एक दूसरे से सम्बद्ध अनन्त विज्ञानों का चित्त में उदय होता रहता है। यह 'विज्ञान' ही एकमात्र सत्य है क्योंकि बाह्य वस्तु की सत्ता का पता तो समय-समय पर चित्त में उत्पन्न होने वाले आकारों के 'ज्ञान' के द्वारा ही चलता है। जब बाह्य पदार्थों की सत्ता 'ज्ञान' पर आश्रित है तो वह 'ज्ञान' ही वास्तविक 'सत्ता' हुआ।

माध्यमिक सम्प्रदाय में बाह्यार्थ और विज्ञान—दोनों का निराकरण कर 'शून्य' को परम सत्य माना गया है। 'शून्य' का तात्पर्य 'अभाव' से नहीं है 'शून्य' न सत् है, न असत् है न सदसत् है और न इन दोनों से भिन्न अनिर्वचनीय, अलक्षण होने के कारण ही 'परमार्थ' को 'शून्य' कहा गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष अनायास ही निकल आता है कि बौद्ध धर्म उत्तरोत्तर तात्त्विक चिन्तन की ओर अग्रसर होता ही गया है। स्वतन्त्र प्रज्ञा के बल पर तथागत के सीधे-सादे उपदेशों की तहों में पैठ-पैठकर बौद्ध पण्डित 'धर्म' के दायरे से बाहर आकर दर्शन के क्षेत्र में प्रौढ़ता प्राप्त करने में व्यस्त थे। वैभाषिक मत की बाह्य सत्ता सौत्रान्तिक मत में अन्तर्मुखी दिखाई पड़ती है। योगाचार में प्रत्यक्ष सत्ता और अनुमेय सत्ता—दोनों का बायकाट कर 'विज्ञान' की प्रतिष्ठा की गयी। अन्त में बौद्ध पण्डित 'विज्ञान' से भी आगे बढ़कर विशुद्ध दार्शनिक 'शून्य' में प्रतिष्ठित हो गये हैं। यह 'शून्य' ही उनका परमतत्त्व है, इसके परे उनका गन्तव्य नहीं है।

विभिन्न बौद्ध-मतों में निर्वाण का स्वरूप

वैभाषिकों के मत में श्रावक की चित्तसन्तति जब क्लेश शून्य होती है तब वह मुक्तिभाव को प्राप्त होता है—"क्लेशशून्या चित्तसन्ततिर्मुक्तिरिति वैभाषिका।"[1] निर्वाण नित्य, असंस्कृत धर्म तथा स्वतन्त्र है। इसका चित्त और

१. पद्मनाभमिश्रः पदार्थ धर्मसंग्रह सेतु, पृ० २६।

चैतसिक से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह एक है, सभी भेद इसी में विलीन हो जाते हैं। ज्ञान का आधार भी यही है।

सौत्रान्तिकों के मत में निर्विषय चित्त-सन्तति ही मुक्ति है—"निर्विषयां चित्तसन्तति सौत्रान्तिका: मुक्तिमाहुः।[1]" इनके मत में निर्वाण का स्वरूप दीपक के निर्वाण के समान है। भदन्त अश्वघोष ने इस स्थिति का सुन्दर विवेचन इस प्रकार किया है[2]—

दीपो यथा निर्वृत्तिमभ्युपेतो, नैनावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशि न काञ्चिद् विदिश न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिश न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्, क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

पदार्थ धर्म-संग्रह-सेतु के प्रणेता आचार्य पद्मनाभ के अनुसार योगाचार मत में चित्तवृत्तियों के निरोध को ही मुक्ति कहा जाता है—"चित्तवृत्तिनिरोधो मुक्तिरिति योगाचारः।" लङ्कावतार सूत्र में कहा गया है—चित्त की प्रवृत्ति तथा मुक्ति होती है। चित्त ही उत्पन्न होता है, चित्त का ही निरोध होता है। सभी वस्तुयें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयस्वरूप चित्त की ही विकल्प है। निर्वाण की स्थिति 'लोकोत्तरम' है जिसमें सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। प्रकृति शुद्ध और अप्रतिष्ठित भेद से निर्वाण दो प्रकार का माना गया है। बोधिसत्त्व के हृदय में परोपकार की भावना होती है, अतः वह अपना चित्त निर्वाण में नहीं लगाते। इसी कारण उनकी सत्ता अप्रतिष्ठित निर्वाण में मानी जाती है। इस निर्वाण को केवल 'बुद्धजन' ही प्राप्त कर सकते हैं। इसके विपरीत श्रावक और प्रत्येक बुद्ध सम्पूर्ण दुःखों की शान्ति के लिये निर्वाण में ही प्रतिष्ठित मन वाले होते हैं।

माध्यमिक मत में निर्वाण का राग के समान त्याग नहीं हो सकता और न सात्त्विक जीवन के फल के समान इसकी प्राप्ति ही सम्भव है। यह उत्पत्ति और निरोध दोनों से भिन्न अशाश्वत पदार्थ है। नागार्जुन ने कहा भी है—

अप्रहाणं रसम्प्राप्तम् अनुच्छिन्नमशाश्वतम्।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते॥

यह अनिर्वचनीय स्थिति कल्पना-जाल के क्षय होने पर ही सम्भव है।

---

१. वही; पृष्ठ २६। २. सौदरनन्द; १६।२८,२९

बुद्धोपदेश की भाषा

भगवान् बुद्ध का लक्ष्य था कि उनका संदेश केवल विद्वद्वर्ग तक सीमित न होकर अपढ़ लोगों तक भी समान रूप से पहुँचे। वह अपने धर्म को प्रासाद से लेकर झोंपड़ी तक में समान रूप से व्याप्त देखना चाहते थे। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये भगवान् ने अपने उपदेश तत्कालीन प्राकृत भाषा में ही दिये। चूंकि तथागत का प्रधान कार्यक्षेत्र "मगध, रहा था, अतः उनकी भाषा भी उसी प्रान्त से सम्बन्धित रही होगी।" निम्नलिखित श्लोक 'मागधी' को ही बुद्धवचन की मूलभाषा स्पष्ट रूप से मानता है—

सा मागधी मूलभासा नरा यायादिकप्पिका।

ब्राह्मणा चूस्सुतालापा सम्बुद्धा चापि भासरे।

संघ तथा राज्य का प्रश्रय प्राप्त होने पर इस लोक-भाषा को साहित्यिक रूप प्राप्त हो गया। बुद्ध-वचनों का संग्रह इसी भाषा में हुआ, अतः बौद्धों की धर्म-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित 'मागधी' भाषा का स्वरूप स्थिर हो गया। पर, एक बात ध्यान देने योग्य है। विशुद्ध मागधी' भाषा ही आज की पालिभाषा नहीं है। दोनों में अन्तर आ गया है। इसका एक मुख्य कारण है। संघ में विभिन्न प्रदेशों से आये हुये भिक्षु एक साथ रहते थे। फिर, भगवान् का आदेश भी था—"अनुजानामि भिक्खवे, सकायनिरुत्तियाबुद्धवचनंपरियापुणितं" अर्थात् भिक्षुओं, अपनी-अपनी भाषा में बुद्ध-वचन सीखने की अनुमति देता हूँ। अतः संघ की एक सामान्य भाषा मागधी में भी वैभिन्य आ गया। संघ की यही विकसित भाषा आगे चलकर 'पालिभाषा' कही जाने लगी। पालिभाषा के प्रसिद्ध एवं प्राचीनतम वैयाकरण मोग्गल्लान ने अपने व्याकरण का नाम 'मागध-शब्द लक्षण' कहा है—

सिद्धमिद्धगुणं साधु नमस्सित्वा तथागतं।

सधम्मसंघं भासिस्सं मागध सद्दलक्खणम्॥

आखिर, मागधी भाषा का नाम पालिभाषा कैसे पड़ा? प्रारम्भ में केवल मूलत्रिपिटक के लिये 'पालि' शब्द का व्यवहार होता था, अट्ठकथा के लिये इस नाम से सम्बोधित नहीं किया जाता था—"पिटकत्तयपालिं च तस्स अट्ठक

पिच ।"[1] इससे निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि धीरे-धीरे उस भाषा का नाम—जिसमें बुद्ध-वचन सुरक्षित थे, 'पालि' हो गया।

मागधी भाषा का पालि नाम हो जाने के बाद लोगों ने इसके नामकरण के विषय में अनेक प्रकार की कल्पनायें कीं। विभिन्न विद्वानों द्वारा स्थापित मतों का सारांश यहाँ संकलित किया जाता है—

१. भिक्षु सिद्धार्थ के अनुसार पाठ <पाल <पाल <पालि।

२. पं० विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार 'पालि' का अर्थ पंक्ति है। मोग्गल्लान ने 'पा रक्खणे' धातु से ण्वादि का 'लि' प्रत्यय लगाकर 'पालि= पंक्ति' यह अर्थ किया है।

३. डा० मैक्स वेलेसर के अनुसार पाटलिपुत्र की भाषा का नाम पाटलि > पाडलि > पाअलि > पालि है।

४. संस्कृत 'पल्लि' शब्द का अर्थ है गाँव। प्रारम्भ में इसे पल्लिभाषा कहा जाता रहा होगा। 'पल्लि' ही कालान्तर में 'पालि' शब्द बन गया।

५. कुछ विद्वान् प्राकृत > पाकट > पाअड > पाअल > पाल > पालि इस प्रकार निरुक्ति बताते हैं।

६. कुछ सिर फिरे वैयाकरण संस्कृत 'प्रालेय' (पड़ौसी) शब्द में 'पालि' का मूल खोजते है।

७. भिक्षु जगदीश काश्यप प्रभृति का विचार है कि त्रिपिटक में जगह-जगह पर बुद्धदेसना के अर्थ में प्रयुक्त 'परियाय' शब्द ही 'पालि' का मूलरूप है। अशोक के भब्रू शिलालेख में यही 'परियाय' 'पलियाय' हो गया है। परियाय > पलियाय > पालियाय > पालि यह पालि का निरुक्ति क्रम है।

पालि का उद्भव-स्थल

पालि किस प्रदेश की मूल भाषा थी? इस प्रश्न पर विद्वानों में मतैक्य नहीं दीख पड़ता। विभिन्न मतों का सारांश इस प्रकार है—

१. रायडेविड्स ने कोसल प्रदेश को पालि का स्थल माना है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने दो प्रमुख तर्क उपस्थित किये हैं, एक तो स्वयं भगवान्

---

१. दीपवंस, २०/२०

बुद्ध कोसल प्रदेश के थे, अतः उनकी मातृभाषा भी वहीं की भाषा रही होगी। दूसरे, उनके निर्वाण के १०० वर्ष बाद कोसल में ही उनके उपदेशों का संग्रह किया गया।

२. वैस्टर गार्ड का मत है कि पालि उज्जैन की भाषा थी। क्योंकि पालि भाषा का सर्वाधिक साम्य गिरिनार के शिलालेख की भाषा के साथ है। साथ ही कुमार महेन्द्र की मातृभाषा भी यही थी, उसी ने सर्वप्रथम बौद्धधर्म लङ्का में पहुँचाया था।

३. आर० ओ० फ्रैंक तथा स्टेनकोनो विन्ध्यप्रदेश को इस भाषा का उद्‌भव-स्थल मानते हैं। इनके दो तर्क हैं—१. पैशाची प्राकृत के साथ पालि का घनिष्ठ सम्बन्ध दीख पड़ता है। यह उज्जैन के आस-पास विन्ध्यप्रदेश में बोली जाती थी। २. गिरिनार शिलालेख की भाषा इससे बहुत मिलती-जुलती है।

४. ओल्डनवर्ग इसे कलिंग देश की भाषा मानते हैं। वह खंडगिरी के शिलालेख की भाषा और पालि में अधिक समानता देखते हैं। ई० मुलर भी इसी मत के समर्थक हैं।

५. गायगर, चाइल्डर्स, विन्टरनित्ज, भिक्षु जगदीश काश्यप प्रभृति विद्वानों की मान्यता है कि पालिभाषा मागधी भाषा का ही एक रूप है। भले ही तथागत की जन्मभूमि मगध न थी, किन्तु उनका कार्यक्षेत्र तो मगध था। अतः उनकी भाषा पर पूरा-पूरा प्रभाव मगध प्रदेश की भाषा का निश्चय ही पड़ा होगा। अतः बुद्ध की भाषा को मागधी भाषा मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं दीखती।

पालिभाषा का विकास-क्रम—पालिभाषा के विकास-क्रम को समझने के लिये भारतीय भाषाओं के विकास के इतिहास की ओर दृष्टि अवश्य डालनी होगी। भारतीय भाषाओं का विकास तीन विभिन्न युगों का इतिहास है—(१) वैदिक काल से ५०० ई० पू० तक, (२) ५०० ई० पू० से १००० ई० तक और (३) १००० ई० से वर्तमान समय तक इनमें से प्रथम को प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा-युग, द्वितीय को मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा-युग और तृतीय को आधुनिक आर्य-भाषा-युग नाम दिया जा सकता है। प्रथम युग की भाषा का स्वरूप ऋग्वेद की ऋचाओं में सुरक्षित है। अन्य वैदिक ग्रन्थों में इसी भाषा का

उत्तरोत्तर विकसित स्वरूप परिलक्षित होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा सूत्र-ग्रन्थों में जो भाषा प्रयुक्त हुई है, उसका मूल ऋचाओं की भाषा के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष अनायास ही निकल आता है कि उस समय तक वैदिक भाषा में पाये जाने वाले विविध प्रयोग उसके मूल-स्वरूप की रक्षा में बाधक बन रहे थे। अतः विद्वानों को अपना अधिक से अधिक समय एवं परिश्रम भाषा को एकरूपता प्रदान करने में लगाना पड़ा। इस द्वितीय युग (मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा-युग) में वेद की भाषा को नियमित एवं एक रूप बना दिया गया जिसके फलस्वरूप अत्यन्त परिमार्जित 'संस्कृत'' भाषा का अन्तर्प्रान्तीय, राष्ट्रीय एवं शिष्ट साहित्य की भाषा के रूप में विकास हुआ। इसी युग में जहाँ पण्डित भाषा को एकरूपता प्रदान करने में व्यस्त थे, वहीं दूसरी ओर वेद की भाषा अनेक प्रान्तों में पहुँच कर, उन-उन प्रान्तों की भाषाओं के साथ तादात्म्य स्थापित कर रही थी, जिसके फलस्वरूप भिन्न-भिन्न प्रान्तों की लोक-भाषाओं को बल मिल रहा था। ये लोक-भाषायें ही प्रान्तभेद से प्राकृत-भाषाओं के रूप में विकसित हुई। इन प्राकृत भाषाओं में से मगध प्रान्त की लोक-भाषा, जिसे 'प्राचीन मागधी' के नाम से जाना जाता है तथा जिसके माध्यम से तथागत ने अपने उपदेश जनसामान्य तक पहुँचाये 'बौद्धसंघ' का आश्रय लेकर 'पालि' के रूप में (मागधी भाषा से भिन्न) धार्मिक एवं राष्ट्रीय भाषा बन गई। समकालीन अन्य लोकभाषायें समुचित सम्बल के अभाव में कालकवलित हो गयीं। इस प्रकार संस्कृत और पालि दोनों ही भाषायें वैदिक भाषा से प्रसूत समकालिक भाषायें हैं जिनका विकास दो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में हुआ है। भरतसिंह उपाध्यक्ष के अनुसार इस युग में पालि भाषा के विकास के तीन स्तर देखे जा सकते हैं–(क) पालि और अशोक की धर्मलिपियों की भाषा (५०० ई० पू० से प्रथम शती ई० पू०), (ख) प्राकृत भाषायें (१ से ५०० ई०), (ग) अपभ्रंश भाषाओं से हिन्दी तथा उनकी उप-बोलियों एवं मराठी, गुजराती, मालवी आदि प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ है।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि मगध प्रान्त की लोक-भाषा बौद्धसंघ' का आश्रय पाकर ही 'मागधी' से भिन्न 'पालि' के रूप में सामने आयी। इसका एकमात्र कारण था बौद्धसंघ में नाना देश, कुल और जाति के भिक्षुओं का एक

सीथ निवास तथा सभी को अपनी-अपनी भाषा में बुद्धवचन सीखने के लिये तथागत की अनुज्ञा। फलतः पालि एक ऐसी मिश्रित भाषा से बनी जिसमें अनेक बोलियों के तत्त्व संक्रमण कर गये। जबसे इस भाषा को 'धम्मपरियाम' (भब्रू शिलालेख में—धंमपालियानि) अर्थात् 'बुद्धोपदेश की भाषा' के रूप में मान्यता मिली, तभी से इस भाषा के स्वतन्त्र विकास का इतिहास आरम्भ हो जाता है। भरतसिंह उपाध्याय ने इसके विकास-क्रम की चार अवस्थायें दिखाई हैं—

१. त्रिपिटक की गाथाओं की भाषा—त्रिपिटक में आने वाली गाथाओं की भाषा 'पालिभाषा' का प्राचीनतम उपलब्ध रूप है। यह भाषा वैदिक भाषा के अत्यन्त निकट हैं। 'अनेकरूपता' इस भाषा की विशेषता है।

२. त्रिपिटक के गद्य की भाषा—इस भाषा का वास्तविक स्वरूप जातकों में देखा जा सकता है। 'गाथा-पालि की अपेक्षा इसमें एकरूपता, प्राचीन शब्दों के प्रयोग में कमी तथा नवीन शब्दों के प्रयोग की अधिकता है।

३. उत्तरकालीन पालि-गद्य की भाषा—यह गद्य अत्यन्त विकसित, उदात्त और कृत्रिमता से पूर्ण है। अलङ्कारिकता का साम्राज्य सर्वत्र दीख पड़ता है। बुद्धघोषकृत 'अट्ठकथा' का गद्य इनका सर्वोत्तम नमूना है।

४. उत्तरकालीन पालि-काव्य की भाषा—उत्तरकालीन पालि-काव्यों में प्रयुक्त इस भाषा को हम निस्संकोच 'मातृभाषा' कह सकते हैं, इसमें कोई नवीनता नहीं है। लेखकों की प्रवृत्ति इतनी उच्छ्रंखल रही है कि उन्होंने कहीं तो एकदम प्राचीन रूपों को अपनाया है तो कहीं संस्कृत शब्दों पर ही पालि का निकिल चढ़ाकर काम चलाया है। 'महावंश' 'दीपवंश' जैसे ग्रन्थों में संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है।

उपर्युक्त प्रभेदों के अतिरिक्त पालिभाषा का एक और स्वरूप सूत्र-साहित्य में मिलता है। इसके भी दो उपभेद किये जा सकते हैं—(क) सुत्तपिटक की भाषा और (ख) कच्चान, मोग्गल्लान, सद्दनीति आदि व्याकरण ग्रन्थों के सूत्रों की भाषा। सुत्तपिटक की भाषा सरल और सहज है, उसमें कृत्रिमता की गन्ध तक नहीं है प्रत्येक सूत्र के प्रारम्भ में स्थान-पात्र-अवसर आदि का पूर्ण विवरण रहता है। सूत्र गद्य, पद्य दोनों में है। इन सूत्रों की शैली के सम्बन्ध में भिक्षु जगदीश काश्यप का मत है "जैसे सूत के गोले को फेंकने से वह उभरता

हुआ बढ़ता जाता है, वैसे ही पालि के सूत्रों को पढ़ने से आगे के वाक्य स्वयं जीभ पर आने लगते हैं। शायद इसीलिये इस भाषा शैली को "तन्ति"=तन्त्री =सूत कहते हैं।"[1] व्याकरण सम्बन्धी सूत्रों की भाषा तथा शैली—दोनों पर पाणिनि का प्रभाव स्पष्ट है। जिस प्रकार पाणिनि वैदिक भाषा से सम्बन्धित विवेचन के अवसर पर 'बहुलम् नाम व्यत्यय' क्रिया व्यत्यय कहकर चलते बने यहाँ भी वही परम्परा प्रचलित है। यही नहीं व्याकरण का पूरा का पूरा चोखटा पाणिनि के पैटर्न पर है। सुत्त, धातु' गण, ण्वादि नामलिङ्गानुशासन सभी कुछ संस्कृत के वैय्याकरणों से उधार लिया गया है।

पालि के विकृत रूप—बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ-साथ पालिभाषा का भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों में व्यापक प्रचार हुआ। पर लोक-भाषा होने के कारण वह एक रूप को प्राप्त न कर सकी। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में तत्तत् प्रान्तीय बोलियों का प्रभाव इस भाषा पर इतना पड़ा कि अशोक के समय तक आते-आते इसके अनेक 'विकृत रूप' प्रचलन में आने लगे। अशोक के एक शिलालेख की भाषा को लीजिये जिसमें पूर्व, पश्चिम और उत्तर भेद से पाठ की अनेकरूपता कितनी स्पष्ट है—

जौन गढ़ (पूर्व) का शिलालेख

" इय[1] धम्मलिपि[2] खपिगलसि पवतसि देवानं[3] पियेन[4] लाजिना[5] लिखापिता[6]। हिद[7] नो किछि[8] जीवं[9] आलभितु[10] पजोहितविये[11], नापि समाज[12] कटविये[13]।"

गिरिनार पश्चिम का शिलालेख

"इयं[1] धंमलिपि[2] देवानं[3] प्रियेन[4] प्रियदसिना[5] राजा[6] लेखापिता[7]। इध[8] न किंचि[9] जीवं[10] आरभित्या[11] प्रजूहितव्य[12]। न च समाज्ये[13] कतव्यो[14]...।"

मनसेहर (उत्तर) का शिलालेख

"अयि[1] धर्मदीपि[2] देवेन[3] प्रियेन[4] प्रियद्रशिन[5] राजिन[6] लिखपित[7]। हिद[8] न पिचि[9] जिवे[10] आरभितु[11] प्रयुहोतविये[12]। नो पिच समज[13] कटविय[14]...।"

---

१. पालिमहाव्याकरण, पृ० ४६।

कालान्तर में इस भाषा पर तत्कालीन शिष्ट भाषा संस्कृत का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि पालि न रहकर एक तरह से 'संस्कृत' ही बन गयी। पर, अभी तक इसकी अनेकरूपता की आदत छूटी न थी। अतः वह संस्कृत से भी अपना तादात्म्य स्थापित न कर सकी। महावस्तु, ललितविस्तर आदि ग्रन्थों में प्रयुक्त संस्कृत की ओढ़नी ओढ़े पालि भाषा को विद्वानों ने 'गाथा-संस्कृत' नाम दिया है। निम्न उदाहरण लीजिये जो न शुद्ध संस्कृत है और न शुद्ध पालि—

यो शतानि सहस्त्रणां संग्रामे मनुजा जये।
यो चैकं जये आत्मानं स वै संग्रामजित् वरः॥
यत्किंचिदिष्टं च हुतं च लोके' संवत्सरं यजति पुण्यप्रेक्षी।
सर्व पि त न चतुर्भागमेति, अभिवादनं उज्जुगतेषु श्रेयं॥

पालि और प्राकृत—प्राकृत भाषाओं के विकास का इतिहास पालिभाषा के प्रान्तीयकरण की कहानी है। सभी साहित्यिक प्राकृतों का विकास पालि के बाद ही हो सका है। मागधी और अर्धमागधी भाषायें अशोककालीन पूर्वी बोली से विकसित हुईं। सभी जैनधर्म-ग्रन्थ अर्धमागधी भाषा में लिखे हैं, इसीलिये इस भाषा को जैन-मागधी भी कहा जाता है। यह भाषा त्रिपिटक पालि से घनिष्ट साम्य रखती है। शौरसैनी प्राकृत अशोककालीन पश्चिमी बोली से और पैशाची प्राकृत उत्तरी बोली से विकसित हुई हैं। मागधी, अर्द्धमागधी' अवन्ती, प्राच्या, शौरसैनी, वाल्हीक, दाक्षिणात्य, लाटी, पैशाची—सभी प्राकृत भाषायें किसी न किसी लोक-भाषा से ही प्रसूत हुई है, किन्तु इन्हीं प्राकृतों को ज्यों का त्यों लोक-भाषा मान लेना भ्रम होगा। "प्राकृत भाषायें वास्तव में कृत्रिम और काव्य की भाषायें हैं, क्योंकि इन भाषाओं को कवियों ने अपने काव्यों के काम में लाने के प्रयोजन से, बहुत तोड़-मरोड़ और बदल दिया। किन्तु वह इस अर्थ में तोड़ी-मरोड़ी हुई या कृत्रिम भाषायें नहीं हैं कि हम यह समझें कि वे कवियों की कल्पना की उपज हों। इनका ठीक वही हिसाब है जो संस्कृत का है, जो शिक्षित भारतीयों की सामान्य बोल-चाल की भाषा नहीं है और न इसमें बोल-चाल की भाषा का पूरा आधार मिलता है, किन्तु अवश्य ही यह जनता के द्वारा बोली गयी किसी

भाषा के आधार पर बनी थी और राजनीतिक या धार्मिक इतिहास की परम्परा के कारण यह भारत की सामान्य साहित्यिक भाषा बन गयी।[1]" इसके ठीक विपरीत 'पालि' लोकभाषा थी, यद्यपि उसे धार्मिक और राजनैतिक संरक्षण भी मिल गया था। वैसे, पालि और प्राकृत भाषायें संस्कृत की भाँति 'पुराण युवती' नहीं हैं। उनका कुमारी, युवती, वृद्धा—ये तीनों रूप उनके विकास-क्रम में स्पष्ट देखे जा सकते हैं। यही नहीं, अन्त में ये भाषायें अपनी सन्तानों के रूप में अपने अस्तित्व को भी खो बैठी हैं। इसीलिये इनमें अनेक समानतायें दृष्टिगोचर होती हैं, जैसे—

(१) ऋ और लृ वर्णों का प्रयोग दोनों में समान रूप से नहीं होता।

(२) ऐ और औ के स्थान पर ए और ओ का ही प्रयोग होता है।

(३) ऋ के स्थान पर अ, इ, उ में से कोई एक स्वर दोनों भाषाओं में समान रूप से व्यवहृत होता है।

(४) विसर्ग का पालि और प्राकृतों में कोई स्थान नहीं है।

(५) श्, ष् के स्थान पर 'स्' का प्रयोग होता है। केवल मागधी में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती।

(६) ज्ञ्, ण्य्, न्य के स्थान पर ञ्ञ् का प्रयोग पालि और प्राकृतों में समान रूप से होता है।

(७) सभी अकारान्त शब्द प्रायः ओकारान्त (कभी-कभी एकारान्त भी) हो जाते हैं।

(८) मूर्द्धन्य ध्वनि क् दोनों ही में समान रूप से विद्यमान है।

(९) आकस्मिक वर्ण-व्यत्यय इन भाषाओं की अन्य विशेषता है।

(१०) लृ के स्थान पर 'उ' का प्रयोग देखने में आता है।

पालि का अपना स्वरूप—पालि और संस्कृत—दोनों ही भाषायें यद्यपि सहोदरा और वैदिक भाषा से प्रसूता हैं तथापि पालि में वंशानुक्रम की दृष्टि से न तो वैदिक भाषा के ही सभी गुण आ सके हैं और न संस्कृत से ही वह

---

१. रिचर्ड पिशल कृत 'कम्परेटिव ग्रामर आफ् दी प्राकृत लेंग्वेजज' का हिन्दी अनुवाद 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' (अनु० हेमचन्द्र जोशी पृष्ठ ८।)

पूर्ण साम्य रख सकी है। इसके ध्वनि-समूह में ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ऐ, औ और विसर्ग को कोई स्थान नहीं मिला। श्, और ष् का भी बायकाट कर दिया गया है। हाँ, दो स्वरों के बीच में आने वाले 'ड्' का स्थान ळ् ने और ढ् का ळ्ह ने ले लिया है। यह नियम अत्यल्प परिवर्तन के स्थान वैदिक, पालि और हिन्दी में समान रूप से दीख पड़ता है। हिन्दी में यह नियम ड़, ढ़ के रूप में प्रचलित है। संयुक्त व्यञ्जन 'ज्ञ्' के स्थान पर पालि में 'ञ्ञ्' ही प्रयुक्त होता है। जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय ध्वनियाँ भी यहाँ देखने में नहीं आतीं। संस्कृत तथा वैदिक भाषा में तीन वचनों का प्रयोग होता है। एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। पालि में द्विवचन को स्थान नहीं दिया गया। वहाँ उसका काम बहुवचन से ही ले लिया जाता है। यद्यपि पालि में भी सात ही विभक्तियाँ हैं, किन्तु चतुर्थी और षष्ठी विभक्तियों के रूप प्रायः समान होते हैं। यही हालत तृतीया और पञ्चमी के बहुवचन के रूपों की है। पालि में हलन्त शब्दों का प्रयोग बिल्कुल नहीं होता। यहाँ सभी शब्द स्वरान्त हैं। संस्कृत के दस गणों में से नौ और दस लकारों में से केवल आठ पालि में रह गये हैं। इसी प्रकार आत्मनेपद का प्रयोग पालि में नहीं के बरावर पाया जाता है। छन्द की रक्षा के लिये कभी-कभी ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व कर देना पालि की अपनी विशेषता है। संस्कृत वैयाकरणों को यह अनियमितता पसन्द नहीं आयी।

पालि साहित्य का संक्षिप्त परिचय

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम समग्र पालि साहित्य को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—आर्ष एवं अनार्ष। आर्षवाङ्मय के अन्तर्गत तथागत के स्वयं के वचन हैं जिनका संकलन त्रिपिटक में किया गया है। त्रिपिटक से भिन्न सभी प्रकार के पालि साहित्य को अनार्ष या लौकिक साहित्य की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि इसके प्रणेता वे बौद्ध भिक्षु रहे हैं जो 'सम्मासम्बुद्ध' के पद से अभी कुछ दूर थे।

त्रिपिटक—बौद्ध धर्म के मूल एवं प्रामाणिक ग्रन्थ त्रिपिटक ही हैं। त्रिपिटक का अर्थ है—'तीन पिटारियाँ'। भगवान् बुद्ध के सभी उपदेश इन्हीं तीन पिटारियों में सुरक्षित हैं। विषय विभाग की दृष्टि से इन ३ पिटारियों के नाम हैं—सुत्त-पिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक।

भगवान् बुद्ध के सारे उपदेश मौखिक थे। उनके शिष्य भी उन्हें ज्यों का त्यों कण्ठस्थ कर लेते थे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि शिष्यगण भगवान् के उपदेशों को कण्ठस्थ करने की सुविधा के लिए पद्यबद्ध कर लेते थे। पर, यह उनका भ्रम है। यदि ऐसा होता तो सारा त्रिपिटक गाथाबद्ध होता। वैसे इस सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि तथागत ने ही लोगों की सुविधा के लिए और अपने वाक्यों के स्थायित्व के लिये भी भिन्न-भिन्न अवसरों पर दिये गये उपदेशों का सार गाथाबद्ध कर दिया हो। क्योंकि धर्म-प्रचार का सबसे उत्तम साधन सामान्य जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषा की कविता ही हो सकती थी। इस प्रकार सूत्र अथवा गाथा का उच्चारण कर तथागत स्वयं ही उसका भाष्य भी कर देते होंगे। अतः सूत्र, गाथा, गद्य—सभी में उनके मूल वचनों की सम्भावना की जाती है। तथागत कण्ठस्थ किये हुये उपदेश वाक्यों को यदा-कदा शिष्यों से पूछ भी बैठते थे। स्वयं त्रिपिटक में इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं। उदाहरण के लिए एक बार सोण नामक भिक्षु से तथागत ने पूछा "कहो भिक्षु ! तुमने धर्म को कैसे समझा है ?" भिक्षु ने सोलह अष्टक वर्गों को पूरी तरह से सस्वर सुना दिया। तथागत ने शाबाशी देते हुये कहा "साधु भिक्षु ! सोलह अष्टक वर्गों को तुमने भली-भाँति याद कर लिया है, भली प्रकार से धारण कर लिया है। तुम्हारे कहने का ढङ्ग बड़ा अच्छा है, स्पष्ट, निर्दोष और अर्थ को स्पष्ट कर देने वाला है।" भिक्षु-संघ में इस प्रकार बुद्ध-वाक्यों को धारण करने वाले आदर और प्रशंसा के पात्र होते थे। त्रिपिटक में अनेक स्थलों पर बहुस्सुता, आगतागामा, धम्मधरा, विनयधरा मालिकाधरा विशेषण ऐसे ही व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त हुये हैं।

बौद्ध धर्म के बढ़ते हुये प्रभाव के कारण सम्मान, ऐश्वर्य की लालसा से अनेक अवीतराग भिक्षु (प्रच्छन्न बौद्ध) तत्कालीन संघ में प्रवेश कर चुके थे। तथागत के परिनिर्वाण के सातवें दिन ही सुभद्र भिक्षु कहता हुआ सुना गया "अल आवुसो मा सोचित्थ, मा परिदेवित्थ। सुमुत्तामयं तेन महासमणेन। उपद्दुता च होम। इदं वो कप्पती, इदं वो न कप्पति। इदानि पन मयं यं इच्छिस्साम तं करिस्साम। यं न इच्छिस्साम तं न करिस्साम !" अर्थात् "बस आयुष्मनो, शोक मत करो। मत विलाप करो। हम उस महाश्रमण से अच्छी तरह मुक्त हो

गये। वह हमें सदा ही पीड़ित करता था कि यह तुम्हें विधेय है, यह तुम्हें अविधेय है। अब हम जो चाहेंगे, करेंगे, जो नहीं चाहेंगे नहीं करेंगे।" बूढ़े सुभद्र का यह कथन तथागत के प्रिय शिष्यों और भिक्षुओं को निःसन्देह मर्मच्छेदक लगा होगा। इसीलिये तो खिन्न होकर आर्य महाकाश्यप को यह प्रस्ताव रखना ही पड़ा, "पुरे अधम्मो दिप्पति, धम्मो पटिवाहियति। अविनयो दिप्पति, विनयो पटिवाहियति। हन्द, मय आवुसो धम्मं च विनयं च संगायाम" अर्थात् "आज हमारे सामने अधर्म बढ़ रहा है, धर्म का ह्रास हो रहा है। अविनय बढ़ रहा है। विनय का ह्रास हो रहा है। आओ आयुष्मानो! हम धर्म और विनय का सङ्गायन करें।" आर्य महाकाश्यप के इसी प्रस्ताव पर धर्म और विनय सम्बन्धी बुद्ध-वचनों को संकलित करने के उद्देश्य से एक सभा बुलायी गयी। चुल्लवग्ग के अनुसार यह सभा बुद्ध के परिनिर्वाण के चौथे महीने में राजगृह की सप्तपर्णी गुहा में ५०० भिक्षुओं की उपस्थिति से सम्पन्न हुई। आर्य महाकाश्यप ने सभापतित्व ग्रहण करने के उपरान्त उपालि से विनय सम्बन्धी और आनन्द से धर्म-सम्बन्धी प्रश्न पूछे। उनके द्वारा दिये गये उत्तरों का सारी सभा ने संगायन किया। बौद्ध-इतिहास में इसे 'प्रथम संगीति' के नाम से जाना जाता है। इस प्रथम संगीति में ही धम्म और विनय का संकलन किया गया। बुद्धघोष के अनुसार 'अभिधम्म का भी संगायन प्रथम संगीति में ही हुआ था।

कालान्तर में भिक्षु-संघ पुनः ईर्ष्या, असूया आदि दोषों के सम्पर्क में आने लगा। विनय के सम्बन्ध में अनेक उग्र विवाद उठ खड़े हुये। उनके निर्णय के लिये ठीक १०० वर्ष बाद पुनः एक संगीति वैशाली में महास्थविर रेवत के सभापतित्व में बुलायी गयी। इस सङ्गीति में ७०० भिक्षुओं ने धर्म तथा विनय का सङ्गायन किया। बुद्धघोष के मतानुसार बुद्धवचनों का वर्गीकरण (तीन पिटक, पाँच निकाय, नौ अङ्ग तथा ८४००० धर्म स्कन्धों के रूप में) इसी सङ्गीति में सम्पन्न हुआ।

तथागत के परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद पाटलिपुत्र में अशोक की प्रेरणा से तीसरी सङ्गीति बुलायी गयी। इस सङ्गीति के दो उद्देश्य थे—पहला, बौद्ध-संघ में से नकली बौद्धों का निष्कासन और दूसरा, बुद्ध-वाक्यों का प्रकाशन। तिस्स मोग्गलिपुत्त थेर के सभापतित्व में नौ मास तक अनेक भिक्षुओं ने बुद्ध

वचनों का सङ्गायन कर उनका स्वरूप निश्चित कर दिया। इन्हीं दिनों में तिस्समोग्गालिपुत्त ने मिथ्यावादि बौद्धों के मतों का खण्डन करने के लिये 'कथा-वत्थु' की रचना की। इस ग्रन्थ को इस सङ्गीति में 'अभिधम्मपिटक' के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया गया।

इन तीन बैठकों में 'त्रिपिटक' का सङ्कलन पूरा हुआ। विद्वानों का अनुमान है कि यह सङ्कलन मौखिक रूप में ही सम्पन्न हुआ। सम्राट अशोक के पुत्र कुमार महेन्द्र ने लङ्का में जाकर त्रिपिटक का प्रचार किया। फलतः वहाँ भी एक महाविट्टम की स्थापना हुई और त्रिपिटक का पठन-पाठन सौ-दो सौ बरसों तक मौखिक परम्परा से ही चलता रहा। ८८—७६ ई० पू० में लङ्का नरेश वट्टगामणी ने समस्त त्रिपिटक को लिपिबद्ध करा कर उसे हमेशा के लिये एक निश्चित स्वरूप प्रदान कर दिया।

सुत्तपिटक—सुत्तपिटक में बौद्धधर्म के सिद्धान्तों का सरल और सहज 'तन्ति' शैली में वर्णन है। तत्कालीन साहित्य के नौ अङ्गों का उल्लेख 'सुत्त-पिटक' में प्राप्त होता है। ये नौ अङ्ग हैं—

(१) **सुत्त**—तथागत द्वारा दिये गये धार्मिक उपदेश जिनका सङ्कलन गद्य में हुआ है।

(२) **गेय्य**—गद्य-पद्य में सङ्कलित उपदेश।

(३) **वैय्याकरण**—व्याख्या या भाष्य।

(४) **गाथा**—उपदेशों का पद्यबद्ध सङ्कलन।

(५) **उदान**—भावविभोर सन्तों के मुख से सहज में प्रस्फुटित वाक्य।

(६) **इतिवुत्तक**—तथागत की छोटी-मोटी उक्तियों का सङ्कलन।

(७) **जातक**—तथागत के पूर्वजन्मों से सम्बन्धित कथायें।

(८) **अब्भुतधम्म**—यौगिक सिद्धियों के वर्णन।

(९) **वेबल्ल**—प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गये वाक्य।

सुत्तपिटक पाँच निकायों में विभक्त किया गया है जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. **दीघनिकाय**—इस निकाय में लम्बे-लम्बे सुत्तों का संग्रह किया गया है, इसीलिये इस संग्रह का नाम 'दीघनिकाय' रखा गया है। तथागत के जीवन

के अन्तिम दिनों का पूरा इतिहास इसी के 'महापरिनिब्बान सुत्त' में मिलता है। इस निकाय को भी तीन उपभागों—सीलक्खन्धवग्ग, महावग्ग और पाटिक वग्ग में बांटा गया है। सीलक्खन्धवग्ग में ब्रह्मजाल, सामञ्ञफल, अम्बट्ठ, सोणदड, कूटदन्त, महालि, जालिय, कस्सपसीहनाद, पोट्ठपाद, सुभ, केवट्ठ, लोहिच्च और तेविज्ज-तेरह सुत्त; महावग्ग में महापदान, महानिदान, महापरिनिब्बाण, महासुदस्सन, जनवसभ, महागोविन्द, महासमय, सक्कपञ्ह, महासतिपट्ठान और पायासि—दस सुत्त और पाटिकवग्ग में पाटिक, उदुम्बरिक सीहनाद, चक्कवत्तिसीहनाद, अग्गञ्ञ, सम्पसादनिय, पासादिक, लक्खण, सिंगालोवाद, आटानाटिय, सङ्गीति और दसुत्तर—ग्यारह सुत्त हैं। इस प्रकार दीघनिकाय में कुल तीन वग्ग और चौंतीस सुत्त हैं।

२. मज्झिम निकाय—न छोटे, न बड़े मध्यम श्रेणी के सुत्तों का संग्रह मज्झिम निकाय के नाम से जाना जाता है। इसमें १५२ सुत्त हैं जिन्हें विषय के हिसाब से निम्नलिखित पन्द्रह वर्गों में विभक्त किया गया है—

मूलपरियायवग्ग, सीहनादवग्ग, ओपम्मवग्ग, महायमकवग्ग, चूलयमकवग्ग, गहपतिवग्ग, भिक्खुवग्ग, परिब्बाजकवग्ग, राजवग्ग, ब्राह्मणवग्ग, देवदहवग्ग, अनुपदवग्ग, सुञ्ञतावग्ग, विभङ्गवग्ग और सलायतनवग्ग।

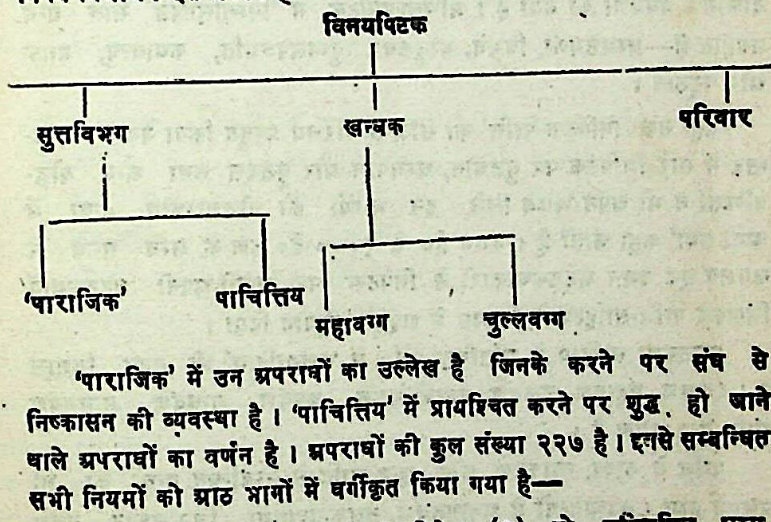
३. खुद्दक निकाय—इसमें छोटे-छोटे सुत्तों का संग्रह है। वास्तव में यह छोटे-छोटे पन्द्रह ग्रन्थ हैं—खुद्दक पाठ, धम्मपद, उदान इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेर गाथा, थेरी गाथा, जातक, निद्देस, पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंश चरियापिटक।

४. संयुक्त निकाय—छोटे-बड़े दोनों ही प्रकार के सुत्तों का यह मिश्रित सङ्कलन है। संयुक्त निकाय में कुल ५६ संयुत्त (मिश्रित सूत्र) हैं जिन्हें विषय की दृष्टि से पांच वर्गों में विभाजित किया गया है। पांच वर्ग हैं—सगाथवग्ग, निदानवग्ग, खन्धवग्ग, सलायतनवग्ग, महावग्ग। इनमें पहले वग्ग में ११, दूसरे में १०, तीसरे में १३, चौथे में १० और पाँचवे वग्ग में १२ संयुत्त हैं।

५. अंगुत्तर निकाय—अंगुत्तर निकाय ११ निपातों में विभक्त है। प्रत्येक निपात का नाम उसमें निर्दिष्ट बुद्धोपदेशों की संख्या से सम्बद्ध है। एकक, द्विक, तिक, चत्तुक्क, पंचक, छक्क, सत्तक, अट्ठक, नवक, दसक और एकादसक—

ये ११ निपात हैं। एक-एक धर्म का प्रतिपादन करने वाले सुत्त एकक निपात में और दो-दो धर्मों के प्रतिपादक सुत्त द्विक निपात में—इसी प्रकार अन्य निपातों में भी संगृहीत हैं।

विनयपिटक—भिक्षुसंघ के नियमित संचालन के उद्देश्य से तथागत ने समय-समय पर विनय सम्बन्धी जो उपदेश भिक्षुओं गृहस्थों आदि को दिये उन्हीं उपदेशों का संकलन विनयपिटक में किया गया है। इसकी शिक्षाओं का क्षेत्र बहुत विशाल है। तथागत की दृष्टि से मानव का कोई भी ऐसा कृत्य नहीं बचा जिसके लिये आवश्यक विधान उन्होंने न बताया हो। प्रव्रज्या की दीक्षा, शिष्य-आचार्य का पारस्परिक व्यवहार, उठना-बैठना, खाना-पीना, भिक्षाटन करना, उपोसथ कर्म, यात्रा, निवास, वेश-भूषा, औषधि आदि से सम्बन्धित नियमों का विशद वर्णन विनयपिटक में मिलता है। विनयपिटक का विषय-विभाजन इस प्रकार है—



'पाराजिक' में उन अपराधों का उल्लेख है जिनके करने पर संघ से निष्कासन की व्यवस्था है। 'पाचित्तिय' में प्रायश्चित करने पर शुद्ध हो जाने वाले अपराधों का वर्णन है। अपराधों की कुल संख्या २२७ है। इनसे सम्बन्धित सभी नियमों को आठ भागों में वर्गीकृत किया गया है—

(१) चार पाराजिक, (२) १३ संघादिसेस, (३) दो अनियमित धम्म, (४) ३० निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्म, (५) ९२ पाचित्तिया धम्म, (६) चार पटिदेसनिय धम्म, (७) ७५ सेखिय धम्म, (८) सात अधिकरण समथ धम्म।

'महावग्ग' में इस बात का पूरा-पूरा वर्णन मिलता है कि 'संघ' में जीवन चर्चा कैसी होनी चाहिये ? तथागत के बुद्धत्वलाभ से प्रथम संघ की स्थापना तक का इतिहास इसमें दिया गया है। विनयपिटक के प्रथम दस खन्धों का ही दूसरा नाम महावग्ग है।

छुल्लवग्ग में १२ वग्ग हैं। प्रथम नौ वर्गों में अनुशासन, पाप और उनका प्रायश्चित्त और भिक्षुओं के पातिमोक्ख सम्बन्धी नियमों का वर्णन है। १०वें वर्ग में 'भिक्खुनी पातिमोक्ख' का और ग्यारहवें और बारहवें वर्ग में क्रमशः, राजगृह तथा वैशाली की संगीतियों का वर्णन है।

'परिवार' में १९ वग हैं। यह प्रश्नोत्तर शैली में लिखा गया है। इसे एक प्रकार से विनयपिटक का 'संक्षिप्त संस्करण' कहा जा सकता है।

अभिधम्म पिटक—अभिधम्म पिटक का विवेच्य विषय विशुद्ध आध्यात्मिक एवं दार्शनिक है। विज्ञान, संस्कार, संज्ञा, वेदना, निर्वाण आदि के सम्बन्ध में दार्शनिक गवेषणा की गयी है। अभिधम्मपटिक में निम्नलिखित सात ग्रन्थ संग्रहीत हैं—धम्मसंगणी, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान।

यहाँ तक 'त्रिपिटक पालि' का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया। कालान्तर में सारे त्रिपिटक पर बुद्धघोष, धम्मपाल और बुद्धदत्त तथा अन्य बौद्ध-पण्डितों ने भी अपने भाष्य लिखे। इन भाष्यों को बौद्धशास्त्रीय भाषा में 'अट्ठकथा' कहा जाता है। ४०० ई० से १००० ई० तक के लम्बे समय में लगभग एक दर्जन अट्ठकथाकारों ने 'त्रिपटक' पर अपनी-अपनी अट्ठकथायें लिखकर पालि-साहित्य के विकास में अद्भुत सहयोग दिया।

अट्ठकथा साहित्य के अतिरिक्त पालि में 'वंशसाहित्य' भी बहुत विशाल है। दीपवंश, महावंश, चूलवंश, महाबोधिवंश, थूपवंश, गन्धवंश, सासनवंश आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं।

पालि मे काव्य, व्याकरण, कोश, छन्द आदि से सम्बन्धित ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ। काव्यग्रन्थों में अनागतवंश, तेलकटाहगाथा, जिनालंकार, बुद्धालंकार, रसवाहिनी आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं। कच्चान, मोग्गल्लान और अग्गवंश ने क्रमशः कच्चान व्याकरण (कच्चायन गन्ध), मागधसद्दलक्खण और सद्दनीति

नामक व्याकरण ग्रन्थों की रचना की। पालि में मोग्गल्लान कृत अभिधानप्प-दीपिका और सद्धम्मकित्ति कृत एकक्खरकोस दो कोशग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। संघरक्खित कृत वुत्तोदय छन्दशास्त्र पर सुबोधालंकार काव्यशास्त्र पर दो ही ग्रन्थ मिलते हैं।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि ईसा की १२वीं शताब्दी तक पालि साहित्य की विभिन्न विधाओं पर रचनायें होती रहती हैं।

'बौद्धगीत' के नाम से प्रसिद्ध 'धम्मपद' आकार की दृष्टि से यद्यपि छोटा सा ही ग्रन्थ है, फिर भी उसकी महनीयता और उपयोगिता समस्त बौद्धवाङ्मय में सर्वोपरि समझी जाती है। इसमें केवल ४२३ गाथायें हैं जिन्हें विषय-विभाग की दृष्टि से २६ वर्गों में बाँटा गया है। आचार्य विनोबा ने कर्मयोग, साधना और निष्ठा को आधार बनाकर इसके तीन भाग किये हैं। इन तीनों भागों को उन्होने पुनः छः-छः अध्यायों में इस प्रकार विभक्त किया है—

कर्मयोग	साधना	निष्ठा
↓	↓	↓
१. निर्वैरता	१. आत्मदमनम्	१. बुद्ध-बोद्धाः
२. शीलम्,	२. देहानित्यत्वम्	२. सद्धर्मः
३. सत्संगतिः	३. जागरूकता	३. पण्डितः
४. कर्मविपाक	४. शोधनम्,	४. भिक्षुः
५. नीतिः	५. प्रज्ञायोगः	५. अर्हम्
६. अनिन्दा	६. वितृष्णता,	६. ब्राह्मणः

धम्मपद कोई स्वतन्त्र रचना नहीं है। यह सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय का दूसरा संकलित ग्रन्थ है। इसकी सारी गाथायें भगवान् बुद्ध के मुख से ही प्रस्फुटित हुई हों, ऐसी भी बात नहीं है। यह तो भारतीय मनीषियों के स्वानुभव पर निर्मित उक्तियों, सूक्तियों का पालि संस्करणमात्र है। कुछ गाथायें अवश्य ही स्वयं तथागत की भी होंगी। धम्मपद की ४४, ४५ गाथाओं से यह निष्कर्ष अनायास ही निकाला जा सकता है कि धम्मपद की गाथायें वस्तुतः चयन किये फूलों के समान संकलित हैं। इसमें बहुत सी ऐसी गाथायें हैं, जो अविकल रूप

में केवल भाषा-परिवर्तन के साथ महाभारत, मनुस्मृति आदि संस्कृत ग्रन्थों में भी पायी जाती है। इसलिए यह अनुमान लगा लेना गलत न होगा कि तथागत चुनी हुई सूक्तियों को 'धम्मपद' यह नाम देते थे। कोई भी 'प्रचारक' बहुप्रचलित एवं अर्थगाम्भीर्य से युक्त सूक्तियों का आश्रय लेता ही है।

धम्मपद का संकलन प्रथम संगीति में ही सम्पन्न हो गया था। इसे लिखित रूप तो लंका नरेश वट्टगामणी (८८—७६ ई० पू०) के समय में मिला। तभी से उसका यही स्वरूप जो आज हमें प्राप्त है, चला आ रहा है।

'धम्मपद' के शाब्दिक अर्थ के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। संस्कृत का धर्म अत्यन्त व्यापक है। 'धम्मपद' के अध्ययन से ऐसा लगता है कि यहाँ 'धम्म' शब्द मनुस्मृति (१।१०८) के 'आचारः परमो धर्मः' वाक्य के साथ अपना कोई न कोई सम्बन्ध रखे हुये है। 'पद' शब्द मार्ग, स्थान और वाक्य का वाचक है। इस प्रकार 'धम्मपद' का अर्थ हुआ सदाचार का मार्ग' या 'सदाचार सम्बन्धी वाक्य।' हिन्दी 'पद' का अर्थ 'गेय पद्य' भी है जैसे कबीर के पद, सूरदास के पद। अतः 'सदाचार सम्बन्धी पद' धम्मपद का यह अर्थ भी हो सकता है।

आचार्य बुद्धघोष से पूर्व 'धम्मपद' पर सिंहली भाषा में 'धम्मपदट्ठकथा' उपलब्ध थी। उन्होंने इसका पालि रूपान्तर किया। कोनसी गाथा किस स्थान पर, किस सम्बन्ध में, किसे उपदिष्ट की गयी इसका पूरा विवरण धम्मपदट्ठकथा में मिलना है। इन कथाओं की कुल संख्या ३०५ है।

धम्मपद की सर्वाधिक गाथायें जेतवन में कही गयी हैं। मैक्सम्यूलर के अनुसार १८५ गाथायें जेवतन में और ४२ गाथायें राजगृह में कही गयीं। इनके अतिरिक्त श्रावस्ती, पूर्वाराम, वेणवण, कपिलवस्तु, न्यग्रोधाराम, वैशाली आदि न जाने कितने स्थानों पर ये गाथायें तथागत के मुख से प्रस्फुटित हुई हैं।

———

* नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स *

१. यमकवग्गो पठमो

[स्थान—सावत्थी (श्रावस्ती), व्यक्ति—चक्खुपाल थेर]

१. मनोपुब्बंगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया ।
मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा ।
ततो नं दुक्खमन्वेति, चक्कं'[1]व वहतो पदं ॥१॥

शब्दार्थ— मनोपुब्बंगमा = अग्रगामी मस्तिष्क (या विचार या मन) वाले । धम्मा = धर्म, गुण । मनोसेट्ठा = विचार या मस्तिष्क पर आश्रित हैं । मनोमया = विचार या मस्तिष्क से प्रादुर्भूत । चे = यदि । पदुट्ठेन मनसा = बुरे विचार या मन से । भासति = बोलता है । करोति = करता है । ततो = तब । नं = उस व्यक्ति को । दुक्खमन्वेति = दुःख पीछा करता है । व = जैसे । वहतो = वहन करने वाले के । पदं = पैर को । चक्कं = पहिया ।

अनुवाद—विचार सभी प्रकार के धर्मों के अग्रदूत हैं । सभी धर्म विचारों पर आश्रित हैं, विचारों से उत्पन्न हैं । यदि कोई बुरे विचार के साथ बोलता है या कोई काम करता है तो दुःख उस व्यक्ति का पीछा उसी तरह करता है जैसे पहिया गाड़ी खींचने वाले बैल के पैर का पीछा करता है ।

विशेष—इस पद की प्रथम पंक्ति के अनुवाद के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद दीख पड़ता है । D'Alwis ने अपनी पुस्तक Buddist Nirvan में इसका अर्थ इस प्रकार किया है—"Mind is the leader of all its faculties. Mind is the chief (of all its faculties). The very mind is made up of those (faculties)." पाश्चात्य विद्वान् Childers द्वारा प्रणीत पालि-कोष (पृष्ठ १२०) से ज्ञात होता है कि पांच खन्धों में से वेदना सञ्ञा (संज्ञा) और संखार—इन तीनों को सम्मिलित रूप से 'धम्मा' कहा गया है । D'Alwis के Faculties शब्द से इन्हीं तीन खन्धों का बोध होता है । एक अन्य स्थल पर उन्होंने लिखा है, "Of the four mental Khandhas the

---

१. चक्कं + इव । अनुस्वार के बाद आने वाले स्वर का लोप ।

superiority of दिङ्नाग's strongly asserted in the first verse of धम्मपद The mental faculties (eedna, Sanna and Sankhara) are dominated by Mind, they are governed by Mind, they are made up of Mind" फॉसबोल ने भी इसी अर्थ को सही माना है। लेकिन Max-Mullar ने "All that we are in the result of what we have thought" अर्थ किया है।

टिप्पणी—गीता में भी इसी प्रकार का एक वाक्य मिलता है—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:"

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—मट्ठकुण्डली]

२. मनोपुब्बंगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पसन्नेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं सुखमन्वेति, छाया व अनपायिनी[1] ॥२॥

शब्दार्थ—पसन्नेन मनसा = पवित्र मन से। छाया व अनपायिनी = दुःख न पहुँचाने वाली छाया के समान। सिलवाँ लेवी द्वारा सम्पादित 'महाकर्मविभंग' में इसकी संस्कृत 'छाया छाया वा अनुयायिनी दी गई है जिसके अर्थ 'अनुसरण करने वाली छाया के समान।' Max-Mullar ने भी 'like a shadow that never leaves him' अनुवाद कर इसी पाठ को माना है लेकिन पूर्व पद के प्रसंग में इसे देखने पर 'अनपायिनी' पाठ ही समीचीन लगता है।

अनुवाद—विचार सभी प्रकार के धर्मों के अग्रदूत हैं। सभी धर्म विचार पर आश्रित हैं; विचारों से उत्पन्न हैं। यदि कोई पवित्र मन (विचार) से बोलता है या कार्य करता है तो सुख उस व्यक्ति को कष्ट न पहुँचाने वाली छाया के समान अनुगमन करता है।

[स्थान—जेतवन (सावत्थी), व्यक्ति—थुल्लतिस्स थेर]

३. अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति, वेरं तेसं न सम्मति ॥३॥

शब्दार्थ—अक्कोच्छि = गाली दी क्रुश् धातु से न कि क्रुध् से)। मं:

१. स्या०—अनुपायिनी।

ककी। अवधि=पीटा। अजिनि=पराजित किया। अहासि=लूट-पाट की। =मेरी। ये तं उपनय्हन्ति=वे, जो (प्रतिशोध की भावना को) आश्रय देते (नह-बन्धने धातु से)। तेसं=उनकी। वेरं=शत्रुता। न सम्मति=शान्त हीं होती।

अनुवाद—उसने मुझे गाली दी थी, उसने मुझे पीटा था, उसने मुझे पराजित किया था, उसने मेरी लूट-पाट की थी—इस प्रकार की (प्रतिशोध की) भावना को जो आश्रय देते हैं उनकी शत्रुता कभी शान्त नहीं होती।

४. अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये तं न उपनय्हन्ति[1], वेरं तेसूपसम्मति ॥४॥

शब्दार्थ—तेसु=उनमें। उपसम्मति=शान्त हो जाता है (सं० उपशम्यति)।

अनुवाद—उसने मुझे गाली दी थी, उसने मुझे पीटा था, उसने मुझे पराजित किया था, उसने मेरी लूट-पाट की थी—इस प्रकार की (प्रतिशोध की) भावनाओं को जो आश्रय नहीं देते उनकी शत्रुता (बिल्कुल) शान्त हो जाती है।

[स्थान—जेतवन (सावत्थी), व्यक्ति—कालीयक्खिनी]

५. न हि वेरेन वेरानि, सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनंतनो ॥५॥

शब्दार्थ—सम्मन्तीध=यहाँ शान्त होते हैं। कुदाचनं=कभी। एस=यह। सनंतनो=सनातन या शाश्वत।

अनुवाद—यहाँ (इस संसार में) वैर से वैर कभी शान्त नहीं होते अपितु अवैर (अर्थात् प्रेम) से ही शान्त होते हैं। यही शाश्वत नियम है।

[स्थान—जेतवन (सावत्थी), व्यक्ति—कोसम्बक भिक्खु]

६. परे च न विजानन्ति, मयमेत्थ यमामसे[2]।
ये च तत्थ विजानन्ति, ततो सम्मन्ति मेधगा ॥६॥

शब्दार्थ—परे=अन्य। Max-Mullar ने इसका अर्थ The Word और P. L. Vaidya ने The other (Than the learned) किया

---

१. ना०—ये च तं नुपनय्हन्ति।

२. वर्तमान काल में उत्तम पुरुष का बहुवचन आत्मनेपदीय यम् धातु का प्राचीन रूप Max-Mullar इसे वैदिक लेट् का पालि रूप मानते हैं।

है । न विजानन्ति = नहीं जानते हैं । मयं = हम । एत्थ = यहां । यमामसे
नष्ट हो रहे हैं अर्थात् जीवन को व्यर्थ ही नष्ट कर रहे हैं । तत्थ = तथ्य
वास्तविकता । मेधगा = दोष या कलह (वैदिक मिथ् धातु से पालि में
हुआ शब्द) ।

अनुवाद—दूसरे (अबौद्ध) लोग नहीं जानते कि हम उस संसार में
हो रहे हैं । पर, जो इस तथ्य को जान लेते हैं उनके सभी दोष तत्काल
हो जाते हैं ।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—चुल्लकाल, महाकाल]

७. सुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु असंवुतं ।
भोजनम्हि अमत्तञ्ञु[1], कुसीतं हीनवीरियं ।
तं वे पसहति मारो, वातो रुक्खं' व दुब्बलं ॥७॥

शब्दार्थ—सुभानुपस्सिं = लौकिक मङ्गल की सोचने वाले को (सुभं
पस्सतीति सुभानुपस्सी) । विहरन्तं = विहार करते हुए को । असंवुतं = असं
को । अमत्तञ्ञुं = सही मात्रा (मता न जानने वाले को) कुसीतं = आल
को । पसहति = उखाड़ फेंकता है, झकझोर देता है । मारो = मोह मे फंसा
मारने वाला मार । वातो = वायु । रुक्खं = वृक्ष को । दुब्बलं = दुर्बल को ।

अनुवाद—जिस प्रकार वायु कमजोर वृक्ष को उखाड़ फेंकता है, उसी प्रक
मार लौकिक मङ्गल की सोचने वाले, विहार करने वाले, इन्द्रियों के सम्बन्ध
असंयमी भोजनादि की सही मात्रा में न जानने वाले, आलसी और हीन परा
वाले व्यक्ति को झकझोर देता है ।

८. असुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु सुसंवुतं ।
भोजनम्हि च मत्तञ्ञुं, सद्धं आरद्धवीरियं ।
तं वे न पसहति मारो, वातो सेलं' व पब्बतं ॥८॥

शब्दार्थ—असुभानुपस्सिं = लौकिक मंगल की न सोचने वाले । सुसंवुतं =
सुसंयमी को । सद्धं = श्रद्धावान् को । आरद्धवीरियं = निर्वाण प्राप्त्यर्थ उद्यो
प्रारम्भ कर देने वाले को । नप्पसहति = नहीं उखाड़ पाता या व्यग्र नहीं
पाता । सेलं' व पब्बतं = शिलाओं से युक्त पर्वत की भाँति ।

---

१. ना०—चामत्तञ्ञुं ।

अनुवाद—जिस प्रकार शिलाओं से युक्त पर्वत को वायु उखाड़ नहीं पाता उसी प्रकार (केवल) लौकिक मङ्गल को न सोचकर विहार करने वाले, इन्द्रियों के सम्बन्ध में संयमी, भोजनादि की सही मात्रा जानने वाले, श्रद्धावान् एवं निर्वाण प्राप्त्यर्थ उद्योग प्रारम्भ कर देने वाले व्यक्ति को 'मार' व्यग्र नहीं कर पाता।

[स्थान— जेतवन (सावत्थी), व्यक्ति— देवदत्त]

९. अनिक्कसावो कासावं, यो वत्थं परिदहेस्सति।
अपेतो दमसच्चेन, न सो कासावमरहति ॥९॥

शब्दार्थ–यो = जो। अनिक्कसावो = अपवित्र (बिना चित्त के मलों को हटाये हुये)। कासावं = गेरुआ। वत्थं = वस्त्र। परिदहेस्सति = पहिनता है (परि + धा का पालिरूप)। अपेतो = दूर। दमसच्चेन = दम और सत्य से। अरहति = योग्य।

अनुवाद—जो व्यक्ति चित्त के मलों को हटाये बिना ही गेरुआ वस्त्र पहिनता है और जो दम तथा सत्य से युक्त नहीं है, वह गेरुआ वस्त्र धारण करने के योग्य नहीं है।

विशेष—इसी आशय का एक श्लोक महाभारत के शान्ति पर्व से फॉसबोल ने उद्धृत किया है—

"अनिष्कषाये काषायं ईहार्थमिति विद्धि तम्।
धर्मध्वजानां मुण्डानां वृत्त्यर्थमिति मे मतिः ॥१८/३/४

दम—आत्म-संयम "निग्रहो बाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते" गीता १०-४। अथवा बुरे कामों से मन को रोकना—"कुत्सितात्कर्मणो विप्र यच्च चित्त-निवारण स कीर्तितो दमः।"

१०. यो च वन्तकसावस्स, सीलेसु सुसमाहितो।
उपेतो दमसच्चेन, स वे कासावमरहति ॥१०॥

शब्दार्थः—वन्तकसावस्स = अपवित्र वमन किया हुआ हो (वन्ता = वमन, कसावा = काषायं, अपवित्र वा, येन सो वन्तकसावो = अपवित्रवमनस्रावः, अस्स = स्यात्) उपेतो = युक्त। वे = संस्कृत 'वै' का पालिरूप।

अनुवाद—जिसने सभी दुराचरणों को वमन किये हुए अपवित्र पदार्थ की भाँति त्याग दिया है, सद्गुणों में अच्छी तरह संलग्न है तथा आत्मसंयम और सत्य से युक्त है, वही निश्चित रूप से काषाय वस्त्र धारण करने के योग्य है।

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति— संजय (अग्गसावक)]

११. असारे सारमतिनो, सारे चासारदस्सिनो ।
ते सारं नाधिगच्छन्ति, मिच्छासंकप्पगोचरा ॥११॥

शब्दार्थ—असारे=असत्य में । सारमतिनो=सद्बुद्धि वाले । सारे=स में । असारदस्सिनो=असत् देखने वाले । सारं=सत्य को । नाधिगच्छन्ति= प्राप्त नहीं कर पाते । मिच्छासंकप्पगोचरा=असद् इच्छाओं का अनुसरण कर वाले ।

अनुवाद—जो असत् में सद्बुद्धि वाले और सत् में असत् देखने वाले तथा जो असद् इच्छाओं का अनुसरण करने वाले हैं, वे सत्य को प्राप्त नहीं क पाते ।

विशेष—Max-Muller ने 'मिच्छासंकप्पगोचरा' को स्वतन्त्र पद मा कर इसका अर्थ 'वे तत्व नहीं पहुंच पाते बल्कि असद् इच्छाओं का ही अनु सरण करते हैं (Never arrive at truth, but follow vain desires) किया है ।

१२. सारं च सारतो ञत्वा, असारं च असारतो ।
ते सारं अधिगच्छिन्ति, सम्मासंकप्पगोचरा ॥१२॥

शब्दार्थ—सारतो=सत्य रूप से । ञत्वा=जानकर । असारतो=असत् रूप से । सम्मासंकप्पगोचरा=सम्यक् संकल्प वाले ।

अनुवाद—सत् को सद् रूप से और असत् को असद् रूप से जानक सम्यक् सङ्कल्प वाले वे व्यक्ति सत्यतत्त्व को प्राप्त करते हैं ।

[स्थान—जेतवन (सावत्थी), व्यक्ति=नन्द थेर]

१३. यथा अगारं दुच्छन्नं, वुट्ठि[1] समतिविज्झति ।
एवं अभावितं चित्तं, रागो समतिविज्झति ॥१३॥

शब्दार्थ—अगारं=मकान । दुच्छन्नं=अच्छी तरह न ढके हुये । वुट्ठि= वर्षा । समतिविज्झति=तोड़कर प्रवेश करती है । अभावितं=अदीक्षित । चित्तं=मन या मस्तिष्क ।

अनुवाद—जिस प्रकार वर्षा (का जल) अच्छी तरह से न ढके हुये मकान

१. ना—वुट्ठि ।

ो तोड़कर (अन्दर) प्रवेश कर जाता है, उसी प्रकार राग अदीक्षित (असस्कारित) मस्तिष्क (या मन) में प्रविष्ट हो जाता है।

१४. यथा अगारं सुच्छन्नं, वुट्ठि न समतिविज्झति।
एवं सुभावितं चित्तं, रागो न समतिविज्झति ॥१४॥

शब्दार्थ—सुच्छन्नं = अच्छी तरह ढके हुये। सुभावितं = सुसंस्कारित।

अनुवाद—जिस प्रकार अच्छी तरह से ढके हुए मकान में (वर्षा का जल) उसे तोड़कर (अन्दर) नहीं प्रवेश कर पाता उसी प्रकार भली-भाँति संस्कारित चित्त में राग प्रविष्ट नहीं हो पाता।

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति - चुन्दसुकोरिक]

१५. इध सोचति पेच्च[1] सोचति, पापकारी उभयत्थ सोचति।
सो सोचति सो विहञ्ञति, दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो ॥१५॥

शब्दार्थ—इध = यहाँ अर्थात् इस लोक में। सोचति = शोक करता है। पेच्च = परलोक में। उभयत्थ = उभयत्र अर्थात् दोनों लोकों में। विहञ्ञति = नष्ट होता है। दिस्वा = देखकर। कम्मकिलिट्ठमत्तनों = अपने कर्मों की बुराई।

अनुवाद—दुष्कर्म करने वाला इस लोक में दुःखी होता है, परलोक में दुःखी होता है—दोनों ही लोकों में दुःखी होता है। अपने कर्मों की बुराई देख कर वह शोक करता है और नष्ट हो जाता है।

[स्थान—जेतवन (सावत्थी), व्यक्ति—धम्मिक उपासक]

१६. इध मोदति पेच्च मोदति, कतपुञ्ञो उभयत्थ मोदति।
सो मोदति सो पमोदति, दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो ॥१६॥

शब्दार्थ—मोदति = प्रसन्न रहता है। कतपुञ्ञो = पुण्य कर्म करने वाला, धार्मिक। कम्मविसुद्धिमत्तनो = अपने कर्मों की पवित्रता।

अनुवाद—पुण्य कर्म करने वाला इस लोक में प्रसन्न रहता है, परलोक में प्रसन्न रहता है—दोनो लोकों में प्रसन्न रहता है। अपने कर्मों की पवित्रता देख कर वह प्रसन्न होता है सुखी रहता है।

[स्थान—जेतवन (सावत्थी) व्यक्ति—देवदत्त]

१७. इध तप्पति पेच्च तप्पति, पापकारी उभयत्थ तप्पति।
पापं मे कतं'[2] ति तप्पति, भिय्यो[3] तप्पति दुग्गतिं गतो ॥१७॥

---

१. सी०—पच्च २. 'कत + इति' अनुस्वार के बाद वाले स्वर का वैकल्पिक लोप। ३. सी—भीयो।

शब्दार्थ—कतं = किया हुआ (संस्कृतम्)। ति = ऐसा। भिय्यो = पुनः अधिक। दुग्गति = दुर्गति अर्थात् नरक को।

अनुवाद—पाप कर्म करने वाला इस लोक में दुःखी होता है, परलोक में दुःखी होता है—दोनों लोकों में दुःखी होता है। 'मैंने पाप किया' यह सोचकर दुःखी होता है। नरक में जाकर और अधिक दुःखी होता है।

[स्थान—जेवतन (सावत्थी), व्यक्ति—सुमना देवी]

१८. इध नन्दति पेच्च नन्दति, कतपुञ्ञो उभयत्थ नन्दति।
पुञ्ञं मे कतं' ति नन्दति, भिय्यो नन्दति सुग्गतिं गतो ॥१८॥

शब्दार्थ—पुञ्ञं = पुण्य। सुग्गतिं = सद्गति Fausboll ने इसका अर्थ 'स्वर्ग' किया है।

अनुवाद—पुण्य कर्म करने वाला इस लोक में आनन्वित होता है, परलोक में आनन्वित होता है—दोनों लोकों में आनन्वित होता है, 'मैंने पुण्य कर्म किया है' ऐसा सोचकर आनन्वित होता है, स्वर्ग में पहुंचकर और अधिक आनन्वित होता है।

[स्थान—जेतवन (सावत्थी) व्यक्ति—द्वे सहायक भिक्खु]

१९. बहुं' पि चे सहितं[1] भासमानो, न तक्करो होती नरो पमत्तो।
गोपो व गावो गणयं परेसं, न भागवा सामञ्ञस्स होती ॥१९॥

शब्दार्थ—बहुं = बहुत। अपि = भी। चे = यदि। सहितं = सहिता (बुद्ध वाक्यों का संकलन— त्रिपिटकादि पवित्र ग्रन्थ)। भासमानो = पढ़ता हुआ। न तक्करो = उसे न करने वाला। होती = होता है। नरो = मनुष्य। पमत्तो = प्रमत्त। गोपो = ग्वाला। गावो = गायें। गणयं = गिनय हुआ। परेसं = दूसरों की। भागवा = हिस्सेदार। सामञ्ञस्स = श्रामण्य पद का। Fausboll ने इसे संस्कृत के 'सामान्य' का पर्याय मानकर Community अर्थ किया है।

अनुवाद—यदि कोई प्रमत्त (प्रलापी) मनुष्य बहुत सी संहिताओं को पढ़ता

१. व०—संहित।

हुआ भी तदनुकूल आचरण नहीं करता तो वह श्रमण के पद में उसी तरह भागीदार नहीं होता जिस प्रकार दूसरों की गायों को गिनने वाला ग्वाला (उन गायों में भागीदार नहीं होता)।

२०. अप्पं, पि चे सहितं भासमानो, धम्मस्स होति अनुधम्मचारी।
रागं च दोसं च पहाय मोहं, सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो।
अनुपादियानो इध वा हुरं[1] वा, स भागवा सामञ्जस्स होती ॥२०॥

शब्दार्थ—अप्पं पि=थोड़ा भी। अनुधम्मचारी=धर्मानुकूल चलने वाला। दोसं=द्वेष को। पहाय=छोड़कर। सम्मप्पजानो=सम्यक् ज्ञान को जानने वाला। सुविमुत्तचित्तो=सभी प्रकार की वासनाओं से मुक्त चित्त वाला। अनुपादियानो=किसी की चिन्ता न करते हुये। इध वा हुरं वा=इस लोक में अथवा उस लोक में।

अनुवाद—यदि कोई धर्मानुचारी व्यक्ति थोड़ी भी संहिताओं को पढ़ता हुआ राग, द्वेष और मोह को छोड़कर, सम्यक् ज्ञानवान्, सभी वासनाओं से मुक्त और किसी की चिन्ता नहीं करता (वह) इस लोक अथवा परलोक में भी श्रमणधर्म का भागीदार होता है।

२. अप्पमादवग्गो दुतियो

[स्थान—घोसिताराम (कोसाम्बी), व्यक्ति—सामावती रानी]

२१. अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मता ॥१॥

शब्दार्थ—अप्पमादो=अप्रमाद अर्थात् उत्साह या उद्योग। अवध किशोर नारायण ने इसका अर्थ 'सतत उत्साहशीलता', Fausboll ने सावधानी (Vigilantia), Gogerly ने धर्म (Religion), Childers ने उद्यम (diligence), Max-Muller ने उद्योग (earnestness) और P. L. Vaidya ने उत्साह (Zeal) अर्थ किया हैं। अमतपदं=अमृतपद अर्थात् निर्वाण को। पमादो=आलस्य। मच्चुनो=मृत्यु के। मीयन्ति=मरते हैं। यथा मता=मरे हुये जैसे।

---

१. 'हुरं' पालिभाषा में बहु प्रचलित अव्यय जैसा शब्द है जिसका मूल अभी तक अनुसन्धेय है।

अनुवाद—उत्साह (या उद्योग) अमृतत्त्व (अर्थात् निर्वाण) का मार्ग है, आलस्य मृत्यु का मार्ग है। आलस्य रहित व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त नहीं होते, किन्तु जो आलसी हैं वे तो पहले से ही मरे हुए के समान हैं।

विशेष—उद्योग (या उत्साह) धन, लाभ और कल्याण का मूल हैं। अतः उद्योगी सदा ही दुःखरहित अनन्त सुख भोगने वाला हो जाता है। महात्मा विदुर का वचन है—

अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च।
महान् भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानन्त्यमश्नुते ॥ विदुर नीति VII 5.

२२. एतं[1] विसेसतो ञत्वा, अप्पमादम्हि पण्डिता।
अप्पमादे पमोदन्ति, अरियानं गोचरे रता ॥२॥

शब्दार्थ—विसेसतो = विशेष रूप मे। ञत्वा = जानकर। अप्पमादम्हि = उत्साह या उद्योग में। अरियानं = आर्यों का। Max-Muller ने इसका अर्थ 'चुना हुआ' (elect) किया है। गोचरे = कर्तव्य क्षेत्र या मार्ग में। रता = संलग्न हैं।

अनुवाद—आर्यों के कर्त्तव्य-क्षेत्र में तत्पर, उत्साह या उद्योग में प्रवीण व्यक्ति इसे (पूर्व गाथा में प्रतिपादित सिद्धान्त को) भली-भाँति जानकर उद्योग या उत्साह में ही प्रसन्न होते हैं।

२३. ते झायिनो साततिका, निच्चं दल्[2]हपरक्कमा।
फुसन्ति धीरा निब्बाणं, योगक्खेमं अनुत्तरं ॥३॥

शब्दार्थ—झायिनो = ध्यान करने वाले अर्थात् बुद्धिमान्। साततिका = दूरदर्शी। निच्चं = नित्यं। दलहपरक्कमा = पराक्रम (या प्रयत्न) में दृढ़। फुसन्ति = छूते हैं प्राप्त हैं (सं स्पृशन्ति)। अनुत्तरं = सर्वोत्तम। निब्बाणं = निर्वाण, Childers अनुसार 'अर्हत्त्व'।

अनुवाद—वे बुद्धिमान्, दूरदर्शी हमेशा दृढ़ पराक्रम या प्रयत्न वाले, धैर्यवान् व्यक्ति सर्वोत्तम कल्याणस्वरूप निर्वाण को प्राप्त करते हैं

---

१. ना०—एव।

२. दल्ह—दृढ़। दो स्वरों के मध्य 'ड' को ढ और 'ढ' को ढ् ह होना वैदिक नियम है। हिन्दी में यही नियम 'ड' के स्थान पर 'ड़' और 'ढ' के स्थान पर 'ढ़' के रूप में दीख पड़ता है।

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—कुम्भघोसक]

२४. उट्ठानवतो सतिमतो[1], सुचिकम्मस्स निसम्मकारिनो।
संयतस्स च धम्मजीविनो, अप्पमत्तस्स यसोऽभिवड्ढति ॥४॥

शब्दार्थ—उट्ठानवतो = अपना उत्थान करने वाले का। सतिमतः = ध्यानशील का (सं० स्मृतिमतः)। निसम्मकारिनो = सुनकर करने वाले का। यसोऽभिवड्ढति = यश बढ़ता है।

अनुवाद—आत्मोन्नति करने वाले, ध्यानशील, पवित्र कर्म वाले, (गुरु या आप्त पुरुषों से) सुनकर करने वाले, संयतेन्द्रिय धर्मजीवी और उत्साही व्यक्ति का यश बढ़ता है।

[स्थान—राजगह (वणुवन), व्यक्ति—चुल्लपन्थक थेर]

२५. उट्ठानेनप्पमादेन, संयमेन दमेन च।
दीपं कयिराथ मेधावी, यं ओघो नाभिकीरति ॥५॥

शब्दार्थ—उट्ठानेनप्पमादेन = आत्मोत्थान और उत्साह के द्वारा, दीपं = द्वीप, स्थान, Childers ने इसका अर्थ 'अर्हत् पद' State of an Arhant किया है। वस्तुतः यहाँ 'दीप' शब्द निर्वाण का भाव लिये हुए है। कयिराथ = करना चाहिये। ओघो = बाढ़। न अभिकीरति = चारों ओर छितरा न सके।

अनुवाद—आत्मोत्थान, उत्साह (या उद्योग), (संयम और दम के द्वारा बुद्धिमान ऐसा स्थान बनाये जिसे बाढ़ भी अपनी चपेट में न ला सके।

२६. पमादमनुयुञ्जन्ति, बाला दुम्मेधिनो जना।
अप्पमादं च मेधावी, धनं सेट्ठं च रक्खति ॥६॥

शब्दार्थ—पमादमनुयुञ्जन्ति = आलस्य में लग जाते हैं। बाला = बालक अर्थात् मूर्ख। दुम्मेधिनो = बुरी बुद्धि वाले। धनं सेट्ठ = श्रेष्ठ धन। मैक्समूलर ने इसका अर्थ Best jewel और P. L. Vaidya ने precious wealth किया है।

अनुवाद—अविवेकी (एवं) दुर्बुद्धि मनुष्य आलस्य में लग जाते हैं और बुद्धिमान् व्यक्ति उत्साह या उद्योग की श्रेष्ठ धन के समान रक्षा करते हैं।

---

[1] अ० सतीमतो।

२७. मा पमादमनुयुञ्जेथ, मा कामरतिसन्थवं।
अप्पमत्तो हि झायन्तो, पप्पोति विपुलं सुखं ॥७॥

शब्दार्थ—कामरतिसन्थवं = काम और रतिक्रीड़ा। झायन्तो = ध्यानशील। पप्पोति = प्राप्त करता है (स० प्राप्नोति)।

अनुवाद—आलस्य में कभी न लगे और न काम-क्रीड़ा तथा रति-विहार में ही लगे। ध्यानशील अप्रमत्त व्यक्ति निश्चय ही अतुल सुख प्राप्त करता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—महाकस्सप थेर]

२८. पमाद अप्पमादेन, यदा नुदति पण्डितो।
पञ्ञापासादमारुय्ह, असोको सोकिनिं पजं।
पब्बतट्ठो व भुमट्ठे, धीरो बाले अवेक्खति ॥८॥

शब्दार्थ—पञ्ञापासादमारुय्ह = प्रज्ञा के किले पर चढ़कर। असोको = शोक रहित। सोकिनिं = शोक सन्तप्त, पज = भीड़ को (स० प्रजाम्)। पब्बतट्ठो = पर्वत पर स्थित। भुम्मट्ठे = भूमि पर स्थित। बाले = बालक पर। पी० एल० वैद्य ने ignorant people अर्थ किया है। अवेक्खति = नीचे की ओर देखता है।

अनुवाद—जब विद्वान् उत्साह या उद्योग के द्वारा आलस्य को ढकेल देता है तब प्रज्ञा रूपी किले पर चढ़कर शोकरहित व्यक्ति शोक सन्तप्त भीड़ (प्रजा) को उसी प्रकार देखता है जैसे पर्वत पर स्थित धैर्यशाली व्यक्ति जमीन पर खड़े हुये बालक को देखता है।

[स्नान—जेतवन, व्यक्ति—द्वे सहायक भिक्खु]

२९. अप्पमत्तो पमत्तेसु, सुत्तेसु बहुजागरो।
अबलस्सं व सीघस्सो, हित्वा याति सुमेधसो ॥९॥

शब्दार्थ—सुत्तेसु = सोये हुये व्यक्तियों में, बहुजागरो = बहुत जगने वाला अर्थात् प्रबुद्ध। अबलस्सं = कमजोर घोड़े को (अस्स = अश्व)। सीघस्सो = शीघ्र दोड़ने वाला घोड़ा (सं० शीघ्राश्वः)। हित्वा = छोड़कर। सुमेधसो = सद्बुद्धि वाला।

अनुवाद—आलसी व्यक्तियों में उत्साही (या उद्योगी) सोये हुओं में बहुत जागने वाला (या प्रबुद्ध) सद्बुद्धि वाला व्यक्ति उसी प्रकार आगे बढ़ जाता है जैसे कमजोर घोड़े को छोड़कर द्रुतगामी घोड़ा।

[स्थान—कूटागार (वेसाली), व्यक्ति—महाली)

३०. अप्पमादेन मघवा, देवानं सेट्ठतं गतो।
अप्पमादं पसंसन्ति, पमादो गरहितो सदा ॥१०॥

शब्दार्थ—सेट्ठतं = श्रेष्ठता को । पसंसन्ति = प्रशंसा करते हैं। गरहितो = घृणास्पद (सं० गर्हितः)।

अनुवाद—उत्साह (या उद्योग) से (ही) इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठता को प्राप्त हुआ है। (लोग) उत्साह (या उद्योग) की प्रशंसा करते हैं। आलस्य हमेशा निन्दनीय है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतर भिक्खु]

३१. अप्पमादरतो भिक्खु, पमादे भयदस्सि वा।
संयोजनं[1] अणुं थूलं, डहं अग्गी व गच्छति ॥११॥

शब्दार्थ—अप्पमादरतो = उत्साह या उद्योग में संलग्न। भयदस्सि = भय देखने वाला। संयोजनं = जीवन में आने वाले विघ्न। (बौद्ध धर्म में दस संयोजन माने गये हैं—१. सक्कायदिट्ठि; विचिकिच्छा, ३. सीलब्बतपरामास, ४. कामच्छन्द, ५. व्यापाद, ६. रूपराग, ७. अरूपराग, ८. मान, ९. उद्धच्च, १०. अविज्जा। इनमें से प्रथम पाँच को 'पञ्च ओरंभागियानि' और शेष को 'पञ्च उद्धंभागियानि' कहा जाता है Dr. P. L. Vaidya का मत है कि यहाँ 'संयोजन' के साथ 'अणु' और 'स्थूल'—दोनों विशेषण क्रमशः 'पञ्च ओर भागियानि' और 'पञ्च उद्धं भागियानि' की ओर संकेत करते हैं। डहं = जलाते हुये (सं० दहन्)। Max-Muller तथा Childers ने 'डहं' -पाठ मानकर burning अर्थ किया है किन्तु Fausboll और Weber ने 'सहं' पाठ मानकर क्रमशः सह्य (Vincens) और जीतकर (Conquering) अर्थ किया है।

अनुवाद—उत्साह (या उद्योग) में तत्पर, आलस्य में भय देखने वाला भिक्षु जीवन में आने वाले सूक्ष्म और स्थूल—सभी विघ्नों को नष्ट करता हुआ (जलाता हुआ) अग्नि के समान विचरण करता है।

---

१. सिं०—सञ्ञोजनं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—तिस्सथेर (निगमवासी)*

३२. अप्पमादरतो भिक्खु, पमादे भयदस्सि वा ।
अब्बो परिहानाय, निब्बाणस्सेव[1] सन्तिके ॥१२॥

शब्दार्थ—अभब्बो = न होने योग्य (सं० अभव्य) । परिहानाय = छोड़ने के लिये अर्थात् निर्वाण से दूर होने योग्य नहीं है । सन्तिके = समीप में ।

अनुवाद—उत्साह (या उद्योग) में तत्पर तथा आलस्य में भय देखने वाला भिक्खु निर्वाण के समीप ही है, उससे दूर होने के योग्य नहीं है ।

३. चित्तवग्गो ततियो

[स्थान—चालिक पब्बत[2], व्यक्ति—मेघिय थेर]

३३. फन्दनं चपलं चित्तं दुरक्खं[3] दुन्निवारयं ।
उजुं करोति मेधावी, उसुकारो' व तेजनं ॥१॥

शब्दार्थ—फन्दनं=सांसारिक सुखों की ओर दौड़ने वाले या चलायमान (सं० स्पन्दनं) । दुरक्खं = कठिनाई से रक्षा करने योग्य । दुन्निवारयं = दुर्निवार्य । उजुं = सीधा, अकुटिल, (सं० ऋजु) । उसुकारो = बाण बनाने वाला (सं० इषुकार:) तेजनं = बेंत को ।

अनुवाद—मेधावी पुरुष सांसारिक सुखों की ओर दौड़ने वाले, चंचल, दुरक्ष्य और दुर्निवार्य चित्त (मन) को ऋजु (एकाग्र) बना लेता है जैसे बाण बनाने वाला बेंत को सीधा करता है ।

विशेष—इसी भाव का गीता में भी एक श्लोक प्राप्त है जिसमें दुर्निवार्य चञ्चल मन को अभ्यास और वैराग्य से वश में करने की बात कही गयी है—

'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥६-३५॥

---

*श्री सत्कारि शर्मा वङ्गीय द्वारा सम्पादित चौखम्बा संस्करण में इस गाथा के स्थान एवं पात्रों का निर्देश नहीं है । यहाँ हमने अवधकिशोर नारायण द्वारा सम्पादित महाबोधिसभा, सारनाथ के संस्करण के आधार पर स्थान-पात्र का निर्देश किया है ।

१. ना०—निब्बानस्सेव ।

२. सि०—वालिक पब्बत । सा०—चालिय पब्बत । ३. ब्र०—दूरक्ख ।

३४ वारिजो' व थले खित्तो, ओकमोकत उब्भतो ।
परिफन्दतिदं चित्तं, मारधेय्यं पहातवे ॥२॥

शब्दार्थ - वारिजो = मत्स्य । खित्तो = फेंका हुआ (सं० क्षिप्तः) । ओकम्—जल, ओकस्—घर, ओकमोकत = जलीय घर से । उब्भतो = निकाला हुआ (सं० उद्भृतः) परिफन्दतिदं चित्तं = यह चित्त फड़फड़ाता है। मारधेय्यं = मार के अधिकार को । Max Muller ने 'धेय्यं' का अर्थ dominion किया है । पहातवे = मुक्ति के लिये (वैदिक रूप 'प्रहातवे') ।

अनुवाद—जिस प्रकार जलीय घर से निकाल कर स्थल पर फेंकी हुयी मछली अपनी मुक्ति के लिये फड़फड़ाती है उसी प्रकार यह चित्त (Max-Muller के अनुसार Our thought और D' Alwis के अनुसार Mind) अपनी मुक्ति के लिये चारों ओर तड़पता फिरता है ।

विशेष—'ओकमोकत' पद के अनुवाद के सम्बन्ध में परम्परागत विद्वानों तथा भदन्त बुद्धघोष के भी मत का खण्डन करते हुए श्री सत्कारि शर्मा वगीय ने "ओकतो (अर्थात् जलमय निवास-स्थान से) ओकमू (घर पर) उब्भतो (उद्घृत अर्थात् लायी हुयी) वारिजो (मछली)··········:" अर्थ किया है । उनका मत है, 'ओक' को संस्कृत 'उदक' का पालिरूप माना जाय जैसा कि सुप्रसिद्ध भाषा-शास्त्री जार्ज ग्रियर्सन तथा मैक्सम्यूलर आदि मानते हैं तो 'ओकम्' में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग नहीं हो सकेगा । लेकिन वगीय का मत स्वीकार करने में पहली आपत्ति तो यह है कि 'ओकतो' का 'जलमय निवास-स्थान से' यह अर्थ कैसे हुआ जबकि 'जलमय' अर्थ के लिये पालि शब्द दिया ही नहीं गया । दूसरी आपत्ति यह है कि उपर्युक्त अर्थ मानने पर 'थले खित्तो' पद की सार्थकता क्या होगी ? वास्तव में 'ओक' द्वितीया विभक्ति का रूप न होकर प्रथमा, एकवचन का रूप है जो संस्कृत के 'उदक' (नपुं०) का ही शब्द संकोचन होकर पालि में आया है । सम्भवतः श्री वगीय को संस्कृत 'उदकं' के पुल्लिग होने का भ्रम हुआ होगा ।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—अञ्ञतर भिक्खु]

३५. दुन्निग्गहस्स लहुनो, यत्थकामनिपातिनो ।
चित्तस्स दमथो साधु, चित्तं दन्तं सुखावहम् ॥३॥

शब्दार्थ—लहुनो=क्षुद्र का सं० (लघुनः)। यत्थकामनिपातिनो=इच्छानुकूल इधर-उधर दौड़ने वाले अर्थात् चपल का। दमथो=दमन। दन्तं=वशीकृत।

अनुवाद—कठिनाई से वश में किये जा सकने वाले, क्षुद्र और चपल चित्त (या मन) का दमन श्रेयस्कर है। वशीकृत चित्त (मन) सुखकारी होता है।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—उक्कण्ठितञ्ञतर भिक्खु]

३६. सुदुद्दसं सुनिपुणं, यत्थकामनिपातिनम्।
चित्तं रक्खेथ मेधावी, चित्तं गुत्तं सुखावहम् ॥४॥

शब्दार्थ—सुदुद्दसं=दुर्दर्श अर्थात् मुश्किल से ही देखा जा सकने वाला। P. L. Vaidya ने incomprehensible (दुर्ज्ञेय) अर्थ किया है। गुत्तं=रक्षित (सं० गुप्तम्)।

अनुवाद—दुर्दर्श (या दुर्बोध्य) धूर्त (Max-Muller के अनुसार Artful) और चञ्चल चित्त की रक्षा करनी चाहिये। अच्छी तरह रक्षा किया हुआ चित्त (या मन) सुखकारी होता है।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—संघरक्खित थेर]

३७. दूरङ्गमं एकचरं, असरीरं गुहासयं
ये चित्तं संयमेस्सन्ति, मोक्खन्ति मारबन्धना ॥५॥

अनुवाद—जो व्यक्ति, दूर-दूर तक जाने वाले, अकेले ही विचरण करने वाले, शरीर रहित, गुहा में रहने वाले चित्त (या मन) को संयमित कर लेंगे, वे मार के बन्धनों से मुक्त हो जायेंगे।

विशेष—'गुहा' का सामान्य अर्थ 'गुफा' है। किन्तु बौद्धदर्शन में इसका विशेष अर्थ है। टीकाकार भदन्त बुद्धघोष के अनुसार "गुहा नाम चतुमहाभूत-गुहा, इदं च हृदयरूपं निस्साय वत्ततीति।" मैक्सम्यूलर ने इसका अर्थ The chamber (of the heart) किया है।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—चित्तहत्थ थेर]

३८. अनवट्ठितचित्तस्स, सद्धम्मं अविजानतो।
परिप्लवपसादस्स, पञ्ञा न परिपूरति ॥६॥

शब्दार्थ—परिप्लवपसादस्स=शान्ति नष्ट हो गया है जिसकी अर्थात् अशान्त की। पञ्ञा=प्रज्ञा। परिपूरति=परिपूर्ण होती है।

अनुवाद—चञ्चल चित्त वाले, सद्धर्म से अनभिज्ञ एवं अशान्त व्यक्ति की बुद्धि (कभी) परिपूर्ण नहीं होती।

३९. अनवस्सुतचित्तस्स, अनन्वाहतचेतसो।
पुञ्ञपापपहीनस्स, नत्थि जागरतो भयं ॥७॥

शब्दार्थ—अनवस्सुतचित्तस्स=वासनाओं से मुक्त चित्त वाले व्यक्ति का। (अन्+अवस्स्रुत+चित्तस्स) 'अवस्सुत' का तात्पर्य है—अवस्सव से दुष्ट। लेकिन 'अवस्सव' के मूल अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। Weber ने 'अवस्सुत' को संस्कृत के 'अनवस्रुत' का पालिरूप मान unspotted अर्थ किया है। ललित विस्तर के बाईसवें अध्याय से 'शुष्का आस्रवा न पुनः स्रवन्ति' उद्धरण को उद्धृत करते हुए बुर्नफ (Burnouf) ने 'आश्रव' का पालिरूप 'आसव' माना है। उसी ग्रन्थ में बुद्ध का एक नाम 'क्षीणासव' दिया गया है। धम्मपद की ८९ गाथा में 'खीणासवा' पद का प्रयोग 'वीतराग' के अर्थ में हुआ है। पालिकोषों में 'आसव' को 'काम का पर्याय' माना गया है। महापरिनिब्बानसुत्त में 'आसव' का मूल तात्पर्य The runnig out towards objects of the senses है जो वैदिक 'आश्राव' से भिन्न है। लेकिन मैक्सम्यूलर आपस्तम्ब धर्मसूत्र II 5, 9 में पठित 'आश्राव' का ही पालिरूप 'अवस्सव' मानते हैं—"It is better, however, to take आश्राव here too, as the act of running out the affections, appetites passions." वैसे 'अनाश्रव'[1] शब्द का लौकिक संस्कृत में प्रयोग 'अविधेय' के अर्थ में भी होता है (रघुवंश १९—४९ पर मल्लिनाथ)। इस प्रकार प्रथम पाद का अर्थ 'जिसका चित्त (बुद्ध के) वचनों में स्थित नहीं है उसका' यह भी सम्भव है। अनन्वाहतचेतसो=आघात (दुःख) से न व्याकुल चित्त वाले व्यक्ति का।

अनुवाद—वासनाओं से मुक्त चित्त वाले, व्याकुलता से शून्य हृदय वाले पाप और पुण्य से हीन प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए भय नहीं है।

विशेष—महायानी परम्परा के अनुसार बुद्धत्व प्राप्ति के बाद भगवान् बुद्ध के मुख से 'शुष्का आश्रवा न पुनः श्रवन्ति' वाक्य सर्वप्रथम प्रस्फुटित हुये थे

---

१. "वचने स्थित आश्रवः" अमरकोष।

विशेष विवरण के लिए देखिये राजेन्द्र लाल मित्र द्वारा सम्पादित ललितविस्तर, अध्याय २२।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—५०० विपस्सक भिक्खु]

४०. कुम्भूपमं कायमिमं विदित्वा, नागरूपम चित्तमिदं ठपेत्वा।
योधेथ मारं पञ्ञायुधेन[1], जितं च रक्खे अनिवेसनो सिया॥८॥

शब्दार्थ:—कुम्भूपमं=घड़े के समान। नगरूपम=नगर के समान। ठपेत्वा=स्थिर कर। अनिवेसनो=गृहविहिन। Max Muller ने should never rest अर्थ किया है। सिया=होना चाहिये (सं० स्यात ?)।

अनुवाद—इस काया को कुम्भवत् समझकर, नगर के तुल्य इस चित्त को स्थिर (दृढ़) कर बुद्धिरूपी अस्त्र से 'मार' के साथ युद्ध करे, जीते हुये (मार) की रखवाली करे, घर छोड़ देना चाहिये।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—पूतिगत्ततिस्स थेर]

४१. अचिरं वतयं कायो, पठविं अधिसेस्सति।
छुद्धो अपेतविञ्ञाणो, निरत्थं, व कलिंगरं॥९॥

शब्दार्थ—वतय=दुःख है। पठविं=पृथ्वी पर। अधिसेस्सति=सो जायेगी। छुद्धो=छूटा हुआ (सं० क्षिप्तः)। अपेतविञ्ञाणो=विज्ञान शून्य। निरत्थं=व्यर्थ। कलिंगरं=काष्ठखण्ड या जली हुई लकड़ी।

अनुवाद—बहुत दुःख है, निरर्थक लकड़ी के समान (अन्त्येष्टि के समय) फेंका हुआ चेतना (विज्ञान) शून्य शरीर पृथ्वी पर शीघ्र ही सो जायेगा।

[स्थान—कोसलजनपद, व्यक्ति—नन्दगोपालक]

४२. दिसो दिसं यं तं कयिरा, वेरी वा पन वेरिनं।
मिच्छापणिहितं चित्तं, पापियो नं ततो करे॥१०॥

शब्दार्थ—दिसो=द्वेषी। कयिरा=करे। मिच्छापणिहितं=गलत दिशा की ओर प्रेरित। पापियो=नीचतम। न=उसको।

अनुवाद—द्वेष करने वाला द्वेषी के साथ अथवा शत्रु शत्रु के साथ कुछ भी करे। पर गलत दिशा की ओर प्रेरित चित्त (या मन) उस निकृष्ट व्यक्ति का घोर अहित करता है।

---

1. ना० पञ्ञावुधेन।

[स्थान—कोसल जनपद[1], व्यक्ति—सोरेय्य थेर]

४३. न तं माता-पिता कयिरा, अञ्ञे वापि च ञातका।
सम्मापणिहितं चित्तं, सेय्यसो नं ततो करे ॥११॥

शब्दार्थ—ञातका = जाति-भाई। सम्मापणहितं = सही दिशा की ओर प्रेरित। सेय्यसो = कल्याण (सं० श्रेयस्)। ततो = उससे भी अधिक।

अनुवाद—जितनी (भलाई) न तो माता-पिता कर सकते हैं और न अन्य जाति-भाई उससे अधिक उसकी भलाई सन्मार्ग की ओर प्रेरित चित्त (सा मन) करता है।

४. पुप्फवग्गो चतुत्थो

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—पञ्चसत भिक्खु]

४४. को[2] इमं पठविं विजेस्सति[3], यमलोकं च इमं सदेवकं।
को धम्मपदं सुदेसितं, कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति ॥१॥

शब्दार्थ—विजेस्सति = जीतेगा। सदेवकं = देवताओं सहित। मैक्सम्यूलर ने The world of the Gods अर्थ किया है। सुदेसितं = अच्छी तरह सिखाये गये। पुप्फमिव = फूल के समान। पचेस्सति = चुनेगा (सं० प्रचेष्यति)।

अनुवाद—कौन इस पृथ्वी को ? जीतेगा ? और देवताओं समेत इस यम-लोक को कौन जीतेगा ? कौन अच्छी तरह सिखाये हुये धर्म के पदों को उसी तरह संकलित करेगा जैसे कि चतुर व्यक्ति फूलों का।

४५. सेखो पठविं विजेस्सति, यमलोकं च इमं सदेवकं।
सेखो धम्मपदं सुदेसितं, कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति ॥२॥

---

१. इस गाथा के स्थान, पात्र का निर्देश अवध किशोर नारायण के संस्करण के आधार पर दिया गया है। यह पूर्व गाथा के प्रसंग में उचित भी मालूम पड़ता है। चौखम्बा संस्करण में स्थान 'जेतवन' (सावत्थी)' निर्दिष्ट है जो ब्रह्मदेशीय पाठ पर आधृत है। सिंहली पाठ में 'सोरेय्य नगरे···सावत्थियं पाठ' मिलता है।

२. सिं०—को मं। ३. ब्र०—विचेस्सति।

शब्दार्थ—सेखो = शिष्य (सं० शैक्षः)।

अनुवाद—शिष्य पृथ्वी को जीतेगा देवताओं के समेत इस यमलोक को भी। शिष्य अच्छी तरह उपदिष्ट धर्म के पदों को उसी प्रकार संकलित कर लेगा जिस प्रकार चतुर (मालाकार) फूलों को चुन लेता है।

विशेष—पालि का 'सेखो' शब्द संस्कृत के 'शैक्षः' का परिवर्तित रूप है। इसका तात्पर्य उस शिष्य से लिया जाता है जिसे तीन शिक्षाओं—अधिसील सिक्खा, अधिचित्त सिक्खा, अधिपञ्ञा सिक्खा से 'अर्हत्त्व' प्राप्ति पर्यन्त शिक्षित किया जाता है। इस शिष्य की क्रमशः सात अवस्थायें होती हैं—

(१) सोतापत्तिमग्गट्ठ, (२) सोतापत्तिफलट्ठ, (३) सकदागामिमग्गट्ठ, (४) सकदागामिफलट्ठ, (५) अनागामिमग्गट्ठ, (६) अनागामिफलट्ठ और (७) अरहत्तमग्गट्ठ।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—मरीचिकम्मट्ठानिक थेर]

४६. फेणूपमं कायमिमं विदित्वा, मरीचिधम्मं अभिसंबुधानो।
छेत्वान मारस्स पपुप्फकानि, अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे ॥३॥

शब्दार्थ—फेणुपम = फेन के समान। मरीचिधम्मं = मृगतृष्णा का धर्म। Fausboll ने 'मरीची' का अर्थ Sunbeam और Weber ने Solar Atom किया है। अभिसंबुधानो = जानकर। पपुप्फकानि = पुष्पमय बाणों को। भदन्त बुद्धघोष ने इसका अर्थ 'जीवन की तीन अवस्थाओं में विद्यमानता' (मारस्स पपुप्फकसङ्खातानि ते भूमकानि वट्टानि) किया है। अदस्सनं = दृष्टि में न। मच्चुराजस्स = मृत्यु देवता की।

अनुवाद—इस शरीर को फेन के समान (क्षणभंगुर) समझकर, मृग-तृष्णा को वास्तविकता को जानकर, मार के पुष्पमय बाणों को तोड़कर मृत्यु-देवता के दर्शन को प्राप्त न होवे।

विशेष—गाथा के अन्तिम चरण का भाव Childers ने 'अर्हत्त्व को प्राप्त होवे' किया है।

महात्मा कबीर के निम्न दोहे से इस गाथा के पहले दो चरणों की तुलना कीजिये—

पानी केरा बुदबुदा, त्यों मानस की जात।
देखत ही छिप जायेंगे, ज्यों तारा परभात ॥

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—विडूडभ]

४७. पुप्फानि हेव पचिनन्त, व्यासत्त मनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघो व, मच्चु आदाय गच्छति ।।४।।

शब्दार्थ—हेव = हि + एव । पचिनन्त = चुनते हुये । व्यासत्तमनसं = अव्यवस्थित चित्त वाले को। सुत्तं = सुप्त । गाम = ग्राम को। महोघो = बाढ़ flood) ।

अनुवाद—फूल ही फूल चुनने वाले, अव्यवस्थित मन वाले मनुष्य को मृत्यु उसी तरह ले जाती है, जैसे सोये हुए गाँव को बाढ़ ।

विशेष—महाभारतीय शान्तिपर्व के निम्न श्लोक से तुलना कीजिये—

सुप्तं व्याघ्रं महौघो वा, मृत्युरादाय गच्छति ।
सञ्चिन्वानकमेवैनं, कामानामवितृप्तिकम् ।।१७५।१६।।

मैक्सम्यूलर ने उक्त श्लोक की प्रकृत गाथा से समानता दिखाते हुए यहाँ तक लिख दिया है—"This last verse, particularly, seems to me clearly a translation from Pali and the Kam of सञ्चिन्वानकम् looks as if put in metricause." सत्कारि शर्मा वङ्गीय ने म्यूलर के मत की आलोचना करते हुए शंका उठायी है कि यदि प्रकृत गाथा का ही संस्कृत अनुवाद उक्त श्लोक है तो 'गां' के स्थान पर 'व्याघ्र' क्यों आ गया? पर, मुझे विश्वास है कि महाभारत के उक्त श्लोक में कम से कम 'व्याघ्र' के स्थान पर 'ग्रामं' अवश्य रहा होगा क्योंकि बाढ़ के प्रसंग में वही उचित भी है। यह बात अवश्य स्वीकार्य है कि पालि के प्राचीनतम ग्रन्थ भी महाभारत से अर्वाचीन हैं, अतः धम्मपद की प्रकृत गाथा संस्कृत का ही पालि अनुवाद हो सकती है।

[स्थान = सावत्थी, व्यक्ति—पतिपूजिका]

४८. पुप्फानि हेव पचिनन्तं, व्यासत्तमनसं नरं।
अतित्तं येव[1] कामेसु, अन्तको कुरुते वसं ।।५।।

शब्दार्थ—अतित्तं येव = अतृप्त ही (स० अतृप्तमेव । अन्तको = मृत्यु, अभिधानप्पदीपिका के अनुसार 'मार' ।

अनुवाद—फूल ही फूल चुनने वाले, अव्यवस्थित मन वाले तथा काम-वासनाओं से अतृप्त व्यक्ति को मृत्यु अपने वश में कर लेती है।

१· ना०—अतित्तञ्जेव ।

विशेष—इसी भाव का निम्न श्लोक महाभारतीय शान्ति पर्व से उद्धृत किया जाता है—

पुष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्रगतमानसम् ।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ॥१७५—८

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—मच्छरियकोसियसेट्ठि[२]]

४९. यथापि भमरो पुप्फं, वण्णगन्धं अहेठयं ।
पलेति रसमादाय, एवं गामे मुनी चरे ॥६॥

शब्दार्थ—भमरो = भ्रमर । वण्णगन्धं = वर्ण और गन्ध । अहेठयं = बिना क्षति पहुँचाये हुये । पलेति = दूर चला जाता है । गामे = गाँव में । मुनी = भिक्खु ।

अनुवाद—जैसे भौंरा पुष्प को बिना क्षति पहुँचाये रंग, गन्ध और रस लेकर दूर चला जाता है उसी प्रकार भिक्खु को गाँव में विचरण करना चाहिये।

विशेष—दशवैकालिक की निम्न गाथाओं से तुलना कीजिये:—

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।
न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणई अप्पयं ॥
एमेए समणा मुत्ता जे, लोए सन्ति साहुणो ।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणे रया ॥१।२—३

महात्मा विदुर ने भी महाभारत में धृतराष्ट्र के प्रति इसी भाव का उपदेश दिया है:—

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥ विदुर० २।१७

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—पाठिक आजीवक (साधु)]

५०. न परेसं विलोमानि, न परेसं कताकतं ।
अत्तनो' व अवेक्खेय्य, कतानि अकतानि च ॥७॥

शब्दार्थ—विलोमानि = प्रतिकूलताओं को, भदन्त बुद्धघोष के अनुसार 'मम्मच्छेदक वचनानि' । कताकतं = कृत और अकृत । मैक्सम्यूलर ने Sins of commission or omission अर्थ किया है । अत्तनो' व = अपने ही ।

२. (कंजूस) कोसिय नामक सेठ ।

अनुवाद—न तो दूसरों की प्रतिकूलताओं (या विपरीत वचनों) को और न दूसरों के कृत्याकृत्य को ही देखना चाहिये। (मनुष्य) अपने ही किये न किये को देखें।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—छत्तपाणी (उपासक)]

५१. यथापि रुचिरं पुप्फं. वण्णवन्त अगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा, अफला होति अकुब्बतो ॥८॥

शब्दार्थ – अगन्धकं—गन्धरहित। अकुब्बतो—(कुछ) न करते हुए।

अनुवाद—जिस प्रकार सुन्दर, रंग-बिरंगा किन्तु गन्धहीन पुष्प (व्यर्थ) होता है उसी प्रकार कथानुकूल (कार्य) न करने वाले व्यक्ति के अच्छी तरह कहे हुए वाक्य भी व्यर्थ होते हैं।

५२. यथापि रुचिरं पुप्फं, वण्णवन्तं अगन्धकं।[1]
एवं सुभासिता वाचा, सफला होति सकुब्बतो[2] ॥९॥

अनुवाद—जिस प्रकार सुन्दर रंग-बिरंगा, सुगन्धित पुष्प (सार्थक) होता है उसी प्रकार कथनानुकूल (कार्य) करने वाले व्यक्ति के भलि-भांती कहे हुए वाक्य भी सफल होते हैं।

[स्थान—पूब्बाराम (सावत्थी), व्यक्ति—विसाखा उपासिका]

५३. यथापि पुप्फरासिम्हा कयिरा मालागुणे बहू ॥१०॥

शब्दार्थ—मालागुणे=माला के सूत्र। मच्चेन=मर्त्य के द्वारा। कत्तब्बं= करना चाहिये।

अनुवाद—जिस प्रकार पुष्पराशि में बहुत-सी मालाओं के सूत्र पिरोये जा सकते हैं, उसी प्रकार पैदा हुए मर्त्य के द्वारा बहुत-सी कुशलताएं (सत्कर्म) करनी चाहियें।

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—आनन्द थेर]

५४. न पुप्फगन्धो पटिवातमेति, न चन्दनं तगरं मल्लिका वा।
सतं च गन्धो पटिवातमेति सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवाति ॥११॥

---

१. वृ०—सुगन्धक। २. ना०—कुब्बतो।

शब्दार्थ —न पटिवातमेति = वायु के प्रतिकूल नहीं जाती (सं० न प्रतिवातमेती) तगरं = तगर एक प्रकार का सुगन्धित पौधा। पी० एल० वैद्य ने चमेली (Josmine) और Dr. Eitle ने कस्तूरी (Musk) माना है। स तं = सज्जनों की। सप्पुरिसो = सज्जन पुरुष। पवाति = फैलता है।

अनुवाद—न तो फूलों की गन्ध और न चन्दन, तगर अथवा मल्लिका की गन्ध ही वायु के प्रतिकूल जा पाती है। किन्तु सज्जनों की गन्ध (कीर्ति) वायु के प्रतिकूल (भी) जाती है। सत्पुरुष सभी दिशाओं में फैल ज ाता है (अर्थात् व्याप्त हो जाता है)।

५५. चन्दनं तगरं वापि, उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गन्धजातानं, सीलगन्धो अनुत्तरो ॥१२॥

अनुवाद—चन्दनं, तगर अथवा कमल और जूही—इन सभी उत्पन्न होने वाली गन्धों में 'शील' (सदाचार) की गन्ध सर्वोत्तम है।

विशेष—Max-Muller ने 'शील' का अर्थ Virtue किया है।

५६. अप्पमत्तो अयं गन्धो, त्वायं तगरचन्दनी[1]।
यो च सीलवतं गन्धो, वाति देवेसु उत्तमो ॥१३॥

शब्दार्थ —अप्पमत्तो = थोड़ा ही (सं० अल्पमात्रः)। यायं—यः + अयं। वाति = फैलती है।

अनुवाद – यह गन्ध जो तगर और चन्दन से आती है, बहुत थोड़ी है, और जो गन्ध शीलवन्त लोगों की है, वह उत्तम गन्ध देवलोक में भी फैलती है।

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—गोधिक थेर]

५७. तेस सम्पन्नसीलानं, अप्पमादविहारिनं।
सम्मदञ्ञा विमुत्तान, मारो मग्गं न विन्दति ॥१४॥

शब्दार्थ—सम्मदञ्ञा = सम्यक् ज्ञान से। विमुत्तानं = मुक्त व्यक्तियों के।

अनुवाद—मार उन शीलसम्पन्न, उत्साह या उद्योग के साथ विहार करने वाले तथा सम्यक् ज्ञान के कारण मुक्त व्यक्तियों का मार्ग नहीं ढूँढ पाता (अर्थात् मार उपर्युक्त लक्षणों से सम्पन्न व्यक्ति का पीछा नहीं कर पाता)।

---

१. ना०—तगरचन्दनं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—गरहादिन्न]

५८. यथ संकारधानस्मिं, उज्झितस्मिं महापथे।
पदुमं तत्थ जायेथ, सुचिगन्धं मनोरमं ॥१५॥

५९. एव सकारभूतेसु, अन्धभूते पुथुज्जने।
अतिरोचति पञ्ञय, सम्भासंबुद्धसावको ॥१६॥

शब्दार्थ—संकारधानस्मिं=कूड़े के ढेर पर। उज्झितस्मिं=फेंके हुये। अन्धभूते=अन्धों के मध्य। मैक्सम्यूलर के अनुसार among the people that walk in darkness. सम्मासबुद्धसावको=सम्यक् बुद्ध का श्रावक अर्थात् बुद्ध का शिष्य।

अनुवाद—जिस प्रकार बड़े राजमार्ग के किनारे फेंके हुये कूड़े के ढ़ेर पर पवित्र गन्ध वाला सुन्दर कमल उग आता है उसी प्रकार कूड़े के समान (क्षुद्र) अन्धकार में भटके हुये अज्ञानी जनों के मध्य सम्यक् बुद्ध का शिष्य प्रज्ञा के सहारे सुशोभित होता है।

५. बालवग्गो पंचमो

[स्थान—जेतवन (सावत्थी), व्यक्ति—दुग्गत[1] सेवक]

६०. दीघा जागरतो रत्ति, दीघं सन्तस्स योजनं।
दीघो बालानं संसारो, सद्धम्म अविजानतं ॥१॥

शब्दार्थ—रत्ति=रात्रि। सन्तस्स=थके हुये के (सं० श्रान्तस्य)। योजनं=चार कोस की माप। P. L. Vaidya के अनुसार league (तीन मील) और मैक्सम्यूलर ने भाव की दृष्टि से a mile अर्थ किया है। बालानं=मूर्खों का। संसारो=जगत् जाल। P. L. Vaidya के अनुसार chain of existance और मैक्सम्यूलर के अनुसार life।

अनुवाद—जगते हुये की रात लम्बी हो जाती है, थके हुये (राहगीर) का योजन भी बड़ा हो जाता है। सद्धर्म को न जानने वाले मूर्खों की संसार-यात्रा लम्बी होती है।

विशेष—माण्डूक्यकारिका में भी मूर्ख एवं वासनायुक्त व्यक्ति की संसार-यात्रा को दीर्घ बताया है—'यावद्धेतु फलावेशः संसारस्तावदायतः' ४।५ : इस पर शङ्करभाष्य गाथा की द्वितीय पंक्ति के भाव को सुस्पष्ट कर देता है—

१. दरिद्र।

'यावद् सम्यग्दर्शनेन हेतुफलावेशो न निवर्ततेऽक्षीणः संसारस्तावदायतो दीर्घो भवति ।'

[स्थान—राजगह, व्यक्ति—सद्धि विहारिक (सेख)]

६१. चरं चे नाधिगच्छेय्य, सेय्यं सदिसमत्तनो ।
एकचरियं दलहं कयिरा, नत्थि बाले सहायता ।।२।।

शब्दार्थ—सदिसमत्तनो = अपने समान (सं० सदृशमात्मनः) । सहायता = सङ्गति ।

अनुवाद—यदि (कोई यात्री मार्ग में) अपने समान या अपने से श्रेष्ठ (अन्य यात्री) न प्राप्त कर सके तो उसे अकेले ही दृढ़तापूर्वक (यात्रा) करनी चाहिये, मूर्ख का साथ अच्छा नहीं ।

विशेष—सुत्तनिपात की निम्नलिखित गाथा में भी यही उपदिष्ट है—
नो चे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं ।
राजा व रट्ठं विजितं पहाय, एको चरे मातङ्गरञ्ञे व नागो ।।१—३—४६

[स्थान—सावत्थी, व्यक्ति—आनंद सेट्ठि]

६२. पुत्ता मत्थि धनं मत्थि, इति बालो विहञ्ञति ।
अत्ता हि अत्तनो नत्थि, कुतो पुत्ता कुतो धनं ।।३।।

शब्दार्थ—पुत्ता = पुत्र (बहु०) । मत्थि = मे = मेरे । अत्थि = है । व्याकरण की दृष्टि से बहुवचन के साथ ए० व० की क्रिया का प्रयोग चिन्त्य है। विहञ्ञति = नष्ट होता है । Max-Muller ने 'दुःखी होता है' (tormented) अर्थ किया है । अत्ता = आत्मा, स्वयं । अत्तनो = अपने आप का ।

अनुवाद—'मेरे पुत्र हैं, मेरा धन है' ऐसा सोचकर मूर्ख विनाश को प्राप्त होता है । जब वह स्वयं अपने का ही नहीं है तो उसके कहाँ पुत्र और कहाँ धन ?

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—गंठिभेदक चोर]

६३. यो बालो मञ्ञति बाल्यं, पंडितो वापि तेन सो ।
बालो च पंडितमानी, स वे बालो'ति वुच्चति ।।४।।

शब्दार्थ—मञ्ञति = मानता है । मैक्सम्यूलर = knows. बाल्यं = बचपन अर्थात् अज्ञता । तेन = उस कारण से । वुच्चति = कहा जाता है ।

अनुवाद—जो मूर्ख अपनी अज्ञता स्वीकार कर लेता है, वह उसी का ग पण्डित (विद्वान्) है। किन्तु वह मूर्ख जो अपने को पण्डित मानता है, व ो (यथार्थ में) मूर्ख कहा जाता है।

विशेष—भारतीय संस्कृति में सर्वत्र ही 'पण्डितम्मन्य' की कटु आलोचना की गयी है। कठोपनिषद् के निम्न वाक्य को देखिये—

अविद्यायामन्तरे विद्यमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दंद्रम्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—उदायित्थेर]

६४. यावजीवं पि चे बालो. पंडितं पयिरुपासति।
न सो धम्मं विजानाति, दब्बी सूपरसं यथा॥५॥

शब्दार्थ—यावजीवं=जीवन पर्यन्त। पयिरुपासति=समीप में रहे। दब्बी =करछुली। सूपरसं=दाल का स्वाद।

अनुवाद—यदि मूर्ख व्यक्ति जीवन पर्यन्त विद्वान के समीप रहे फिर भी वह 'धर्म' को उसी प्रकार नहीं समझ पाता जैसे कि करछुली दाल के स्वाद को नहीं जान पाती।

विशेष—गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरञ्चि सम।
फूलहिं फलहिं न बेंत, यदपि सुधा बरसहिंजलद॥

अधोलिखित सूक्ती मे भी तुलना की जा सकती है—

गुरुं निषेव्यापि हि जीवनाय, भ्रान्त्वा धरित्र्यामपि यावदम्बुधिः।
अधीतशास्त्राण्यपि चिन्तयन् मुहुः—धियाविहीनो न हि याति धन्यताम्॥

महाभारतीय सौप्तिक पर्व का यह श्लोक प्रकृत गाथा से प्रायः अक्षरशः मिलता है—

चिरं ह्यतिजडः शूरः पण्डितं पर्युपास्य हि।
न स धर्मान् विजानाति दर्वी सूपरसानिवः। ५-३

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—तिसपावेय्यक[1] भिक्खु]

६५. मुहुत्तमपि चे विञ्ञू, पंडितं पयिरुपासति।
खिप्पं धम्मं विजानाति, जिव्हा सूपरसं यथा॥६॥

---

१. ए० के० नारायण द्वारा सम्पादित संस्करण में व्यक्ति 'भद्रवर्गीय भिक्षु' हैं।

शब्दार्थ—विञ्ञू = विज्ञ । खिप्पं = शीघ्र ही (सं० क्षिप्रं)

अनुवाद—यदि विज्ञ व्यक्ति क्षणमात्र भी विद्वान् के समीप बैठे तो भी वह शीघ्र ही 'धर्म' को उसी प्रकार जान लेता है जैसे रसना दाल के स्वाद को।

विशेष—महाभारत का यह श्लोक भी प्रकृत गाथा से अक्षरशः साम्य रखता है—

मुहुर्त्तमपि तं प्राज्ञः पण्डितं पर्युपास्य हि ।
क्षिप्र धर्मं विजानाति जिव्हा सूपरसानिव ॥

(सौप्तिक पर्व, ५-४)

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति – सुप्पबुद्ध कुट्ठि]

६६. चरन्ति बाला दुम्मेधा, अमित्तेनेव अत्तना ।
करोन्ता पापक कम्मं, यं होति कटुकप्फलं ॥७॥

शब्दार्थ—अमित्तेनेव = शत्रु की भाँति (स० अमित्रेणैव) ।

अनुवाद—बुरी बुद्धि वाले मूर्ख अपने ही शत्रु की तरह इस संसार में विचरण करते हैं, क्योंकि वे उसी बुरे काम को करते हैं जिसका फल कडुआ होता है ।

विशेष—"हिंस्रः स्वपापेन विहंसति खलु: ।"

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—एक कस्सप]

६७. न तं कम्मं कतं साधु, यं कत्वा अनुतप्पति ।
यस्स अस्सुमुखो रोदं, विपाक पटिसेवति ॥८॥

शब्दार्थ—अनुतप्पति = दुःखी होता है । रोदं = रोते हुए । विपाकं = परिणाम या फल । पटिसेवति = सेवन करता है ।

अनुवाद—वह कर्म अच्छी तरह किया हुआ कर्म नहीं है जिसके करने से वह दुःखी हो और जिसका फल रोते हुये अश्रुपूर्ण मुख वाला (होकर) भोगना पड़ता है ।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति - सुमन (मालाकार)]

६८. तं च कम्मं कतं साधु, यं कत्वा नानुतप्पति ।
यस्स पतीतो सुमनो, विपाकं पटिसेवति ॥९॥

शब्दार्थ – पतीतो = विश्वस्त (सं० प्रतीत:) P. L. Vaidya ने pleased अर्थ किया है । सुमनो—प्रसन्न मन वाला अर्थात् खुशदिल ।

अनुवाद—और वही कर्म अच्छी तरह किया हुआ कर्म है जिसके करने पर (कर्ता) दःखी नहीं होता तथा जिसका फल आश्वस्त (एवं) खुशदिल व्यक्ति प्राप्त करता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—उप्पलवण्णा थेरी]

६९. मधू व[1] मञ्ञति बालो, याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं, अथ[2] बालो दुःक्ख निगच्छिति ॥१०॥

शब्दार्थ—मधू व=मधु के समान। याव=जब तक। पच्चति=पकता है अर्थात् बल देता है।

अनुवाद—जब तक किया हुआ पापकर्म फल नहीं देता। मूर्ख उसे मधु के समान समझता है। किन्तु जब पापकर्म फल देता है तब मूर्ख दुःख को प्राप्त होता है।

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—जम्बुक आजीवक]

७०. मासे मासे कुसग्गेन, बालो भुञ्जेथ[3] भोजनं।
न सो सखतधम्मानं[4], कलं अग्घति सोलसिं ॥११॥

शब्दार्थ—कुसग्गेव=कुश के अग्रभाग से। संखतधम्मानं=धर्मज्ञों के (सं० संख्यातधर्माणां) टाकाकार भदन्त बुद्ध ने इसे स्पष्ट किया है—"ञात-धम्मा तुलितधम्मा, तेसु तेट्टिमोटिया सोतापन्नो संखतधम्मो, उपरिमकोटिया खीणासवो, इमेस संखतधम्मान।" कलं=भाग। अग्घति=मूल्य देता है। प्रायः सभी विद्वानों ने इसकी संस्कृत छाया 'अर्हति' दी है जो चिन्त्य है। संस्कृत में 'अर्घति' का पालिरूप 'अग्घति' है. अभिधानप्पदीपिका में 'अग्घो मूले च पूजने' अर्थ दिया है। सोलसिं=सोहलवीं।

अनुवाद—मूर्ख व्यक्ति एक-एक महीने बाद कुश के अग्रभाग से भोजन करे किन्तु वह धर्मज्ञों के सोहलवें भाग के मूल्य के बराबर नहीं है।

विशेष—इस गाथा में ब्राह्मण-धर्म में प्रचलित कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों की निस्सारता प्रतिपादित की गयी है। बौद्धदर्शन 'धर्म' का व्यापक अर्थ है। 'इतिवुत्तक पालि' के चतुक्कनिपातक में 'धम्मयाग' करने वालों की महनीयता का वर्णन इन शब्दों में किया गया है—

---

१. सिं० मधुवा। २. ब्रह्मदेशीय पाठ तथा नालन्दा संस्करण में 'अथ' नहीं है
३. ब्र०—भुञ्जेय्य। ४. ब्र०—संखातधम्मान।

यो धम्मयागं अयजी अमच्छरी, तथागतो सब्बभूतानुकम्पी ।
तं तादिसं देवमनुस्ससेट्ठं, सत्ता नमस्सन्ति भवस्स पारगुं ॥

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—अहिपेत]

७१. न हि पापं कतं कम्मं, सज्जुखीरं व मुच्चति ।
डहन्तं[1] बालमन्वेति, भस्मच्छन्नो[2] व पावको ॥१२॥

शब्दार्थ—सज्जुखीरं=धारोष्ण दूध (सं० सद्यःक्षीरम्) । मुच्चति=परिणमित होता है । डहन्तं=जलाये हुये । बुद्धघोष ने "डहन्तं बालमन्वेति, किं विया' ति" लिखकर 'जलते हुए मूर्ख का अनुसरण करता है' अर्थ किया है।

अनुवाद—किया हुआ पापकर्म धारोष्ण दूध के समान शीघ्र ही (दही के रूप में) परिणमित नहीं होता, वह तो राख से ढकी हुई अग्नि के समान मूर्ख को जलाता हुआ उसका पीछा करता है ।

विशेष—'पापकर्म' तुरन्त ही फल नहीं देता, इस सम्बन्ध में मनुस्मृतिकार ने भी पाप कर्म के परिणाम की उपमा ताजे दूध से दी है जो तुरन्त ही अपने विकार को प्राप्त नहीं हो पाता—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥४—१७२

[स्थान—राजगह (वेणुवन); व्यक्ति—सट्ठिकूट (पेत)]

७२. यावदेव अनत्थाय, ञत्तं बालस्स जायति ।
हन्ति बालस्स सुक्कंसं, मुद्धमस्स विपातयं ॥१३॥

शब्दार्थ—अनत्थाय=अनर्थ के लिये । ञत्तं=ज्ञत्व । Max-Muller ने 'ज्ञपित' या ज्ञप्तं' तथा Childers ने वैदिक 'ज्ञात्रम्' (Knowledge) का समानार्थक माना है। सुक्क सं=प्रसन्नता (सं० शुक्लांशं) । मुद्धं=शिर । विपातय=करते हुए (सं० विपातयत्) ।

अनुवाद—जैसे ही (पापकर्म) ज्ञत्व को प्राप्त होता है (अर्थात् जान लिया जाता है), मूर्ख के प्रति अनर्थोत्पादक हो जाता है। (तब) वह पापकर्म मूर्ख के शिर को काटता हुआ (अर्थात् नीचा करता हुआ) उसकी (सारी) प्रसन्नता को नष्ट कर देता है।

---

१. स्या०—दहन्त । २. स्या०—भस्माच्छन्नो ।

विशेष—'ञत्त'[1] को 'ज्ञान' (जैसा कि Childers ने भी माना है) का पर्याय मानकर हिन्दी अनुवादकों ने "मूर्ख मनुष्य को जितना भी (यावदेव) ज्ञान है, वह उसके अनर्थ के लिये होता है" अनुवाद किया है। लेकिन पूर्व गाथा के सन्दर्भ में देखने पर 'किया हुआ पापकर्म इस अर्थ का अध्याहार करना आवश्यक हो जाता है। इसलिये Dr P. L. Vaidya ने इस गाथा का अनुवाद "When the evil deed, after it has become known brings sorrow to the fool, then it destroys his bright lot nay it cleaves his head." और मैक्सम्यूलर ने भी इसी प्रकार किया है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सुधम्म थेर]

७३. असतं भावनमिच्छेय्य[1] पुरेक्खारं च भिक्खुसु।
आवासेसु च इस्सरियं, पूजं परकुलेसु च ॥१४॥

शब्दार्थ—पुरेक्खारं = सम्मान (सं पुरस्कारं)। इस्सरियं = स्वामित्व (स० ऐश्वर्यं)।

अनुवाद—मूर्ख व्यक्ति भिक्षुओं में सम्मान, मठों में स्वामित्व, दूसरों के परिवारों में पूजा और असम्भावित वस्तुओं की इच्छा करता है।

७४. ममेव कतमञ्ञतु, गिहीपब्बजिता उभो।
ममेव अतिवसा अस्सु, किच्चाकिच्चेसु किस्मिचि ॥
इति बालस्स संकप्पो, इच्छा मानो च वड्ढति ॥१५॥

शब्दार्थ—कतमञ्ञतु = किया हुआ मानें (सं० कृत मन्येतां, P. L. Vaiday ने कृतं मन्यन्ताम्। गिही = गृहस्थ। पब्बजिता = परिव्राजक। अतिवसा = अधीनस्थ। किच्चाकिच्चेसु = कृत्याकृत्यों में। किस्मिचि = किन्हीं में (भी)। (सं० कस्मिंश्चित्, व्याकरण की दृष्टि से यहाँ केषुचित् होना चाहिये)।

अनुवाद -'गृहस्थ और परिव्राजक—दोनों ही मेरे किये हुये को मानें तथा किन्हीं भी (अर्थात् सभी) कृत्याकृत्यों में मेरे ही अधीनस्थ रहें' यह मूर्ख का संकल्प होता है। और इस प्रकार) उसकी इच्छायें तथा अभिमान निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

---

१. स्या०—भावमिच्छेय्य।

टीका "अविज्जमानं सम्भावन इच्छेय्य, असद्धो समानो सद्धोति मजनो जनाव्' ति इच्छति।"

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—(बनवासिक) तिस्सथेर]

७६. अञ्ञा हि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बाणगामिनी।
एवमेतं नाभिञ्ञाय, भिक्खु बुद्धस्स सावको।
सक्कारं नाभिनन्देय्य, विवेकमनुब्रूहये ॥१६॥

शब्दार्थ—लाभूपनिसा—लाभ की सीढ़ी (मार्ग)। प्रायः सभी विद्वानों ने इसकी संस्कृत छाया 'लाभोपनिषद्' दी है। किन्तु 'उपनिषद्' शब्द का 'सीढ़ी' या मार्ग' के अर्थ में प्रयोग कहीं देखने में नहीं आया। संस्कृत का 'उपनिश्रेणी' शब्द ही पालि के 'उपनिसा' शब्द का मूल मानना उचित होगा। सावको=शिष्य। सक्कारं=सत्कार। विवेकमनुब्रूहये=विवेक (विरक्ति) को बढ़ावें।

अनुवाद—'सांसारिक लाभ का मार्ग अन्य है और निर्वाण की ओर ले जाने वाला मार्ग अन्य है—इस प्रकार तथ्य को जानकर बुद्ध का शिष्य भिक्षु सत्कार (आदि) का अभिनन्दन न करे (अपितु) विवेक अर्थात् विरक्ति को बढ़ावे।

विशेष—कठोपनिषद् के निम्न मन्त्रों में यही सिद्धान्त इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते नानार्थे पुरुषं मितीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥
(—२—१, २)

---

६. पण्डित[1] वग्गो छट्ठो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—राध थेर]

७६. निधीनं व पवत्तारं, यं पस्से वज्जदस्सिनं।
निग्गय्हवादिं मेधाविं, तादिसं पण्डितं भजे।
तादिसं भजमानस्स, सेय्यो होति न पापियो ॥१७॥

---

१. पण्डित का लक्षण—

"दुभयानि च विचेय्य पाण्डुरानि, अज्झत्तं बहिद्धा च सद्धिपञ्ञोः।
कण्हं सुक्कं उपातिवत्तो, पण्डितो तादि पवुच्चते तथत्ता॥"
(सुत्तनिपात, ३–६–१२५)

शब्दार्थ—निधीनं व पवत्तारं=निधियों के बताने वाले की भांति। वज्जदस्सिनं=दोषद्रष्टा को। निग्गय्हवादिं=दोषों को पकड़कर कहने वाले को। तादिसं=वैसे (सं० तादृशम्)।

अनुवाद—जो छिपी हुई निधियों को बताने वाले के समान दोष दिखाने वाले हैं उसे देखना चाहिये (अर्थात् ऐसा ही व्यक्ति वर्शनीय है) दोषों को पकड़ कर कहने वाले उस प्रकार के मेधावी पण्डित की सेवा करें। उक्त प्रकार के विद्वान् की सेवा करने वाले का कल्याण ही होता है, बुरा नहीं।

विशेष—प्रकृत गाथा में 'सतसङ्गति के द्वारा ही कल्याण सम्भव है' सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। इतिवुत्तकपालि के सुखपत्थना सुत्त में इसी सिद्धान्त को और भी अधिक स्पष्ट किया है—

यादिसं कुरुते मित्तं, यादिस चूपसेवति।
सवे तादिसको होति, सहवासो हि तादिसो॥
तस्मा पत्तपुटस्सेव, ञत्वा सम्पाकमत्तनो।
असन्ते नुपसेवेय्य, सन्ते सेवेय्य पण्डितो।
असन्तो निरयं नेन्ति, सन्तो पापेन्ति सुग्गतिं॥

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अस्सजी पुनब्बसू]

७७. ओवदेय्यानुसासेय्य, असब्भा च निवारये।
सतं हि सो पियो होति, असतं होति अप्पियो॥२॥

शब्दार्थ—ओवदेय्य=उपदेश दे (सं० अववदेत्) अनुसासेय्य=अनुशासन करे। असब्भा=अशिष्टता से।

अनुवाद—जो दूसरों को उपदेश दे (अर्थात् गलतियों से सावधान करे, अनुशासन करे और अशिष्टता से दूर करे, वह निश्चय ही सज्जनों का प्रिय होता है और दुर्जनों का अप्रिय।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति - छन्न थेर]

७८. न भजे पापके मित्ते, न भजे पुरिसाधमे।
भजेथ मित्ते कल्याणे, भजेथ पुरिसुत्तमे॥३॥

शब्दार्थ—पुरिसाधमे=अधम व्यक्ति में। कल्याणे=भलाई चाहने वाले ... फ ने 'मित्ते कल्याणे' को विशिष्ट पारिभाषिक शब्द 'कल्याण मित्र' के अर्थ में गृहीत किया है। पुरिसत्तमे=उत्तम व्यक्ति में।

अनुवाद—दुष्कर्म करने वाले मित्र का साथ न करे और न अधम व्य की संगति में ही रहे। भलाई चाहने वाले मित्र के साथ रहे। और उ व्यक्ति की संगति करे।

विशेष—इस प्रकार के उपदेश भारतीय वाङ्मय में सर्वत्र देखे जा स हैं। तुलनार्थ दो सूक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

(क) वरं गहनदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न दुष्टजनसम्पर्कः सुरेन्द्र भवनेष्वपि ॥

(ख) सद्भिरेव सहासीत सद्भिः कुर्वीत संगतिम्।
सद्भिर्विवादं मैत्रीञ्च नासद्भिः किञ्चिदा चरेत् ॥

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—महाकप्पिन थेर]

७९. धम्मपीति सुखं सेति, विप्पसन्नेन चेतसा।
अरियप्पवेदिते धम्मे, सदा रमति पण्डितो ॥४॥

शब्दार्थ—धम्मपीति = धर्म से प्रेम करने वाला। मैक्सम्यूलर ने he drinks in the law अर्थ किया है जो चिन्त्य है।, अरियप्पवेदिते धम्मे श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा प्रचारित धर्म में। बुद्धघोष ने 'आरिय' का अर्थ 'बुद्ध उनके अनुयायी' किया है जो उचित नहीं जँचता।

अनुवाद – धर्म से प्रेम करने वाला प्रफुल्लित मन से सुखपूर्वक सोता (अर्थात् धार्मिक चैन से पैर फटक कर सोता है)। विद्वान् सदा ही व्यक्तियों द्वारा प्रचारित धर्म में रमता है।

विशेष—महाभारत के उद्योग पर्व के निम्न श्लोक में भी ऐसी ही कही गयी है—

आर्यकर्मणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते।
हितं च नाभ्यसूयन्ति पण्डिता भरतर्षभ ॥ ३३–२५

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पण्डित सामणेर]

८०. उदकं हि नयन्ति नेत्तिका, उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका, अत्तानं दमयन्ति पण्डिता।

शब्दार्थ—नेत्तिका = ले जाने वाले। मैक्सम्यूलर ने well makers builders of canals अर्थ किया है। ऐसा अर्थ सम्भवतः बुद्धघोष की

'पाठविया थलट्ठानं खणित्वा आवाट्टानं पूरेत्वा मातिकं वा कत्वा रुक्खदोणिं वा उपेत्वा अत्तनो इच्छिच्छितट्टानं उदकं नेन्तीति नेतिका" के आधार पर कल्पित किया गया है। तच्छका = बढ़ई। अत्तानं = अपने का।

अनुवाद—(पानी) ले जाने वाले (नहर या कुआं खोदकर अपनी इच्छानुसार) पानी ले जाते हैं, बाण बनाने वाले बेंत को मोड़ते हैं, बढ़ई लकड़ी को मोड़ देते हैं (और) पण्डित अपने का (ही) दमन करते है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—लकुंठक भद्दीय थेर]

८१. सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निन्दापसंसासु, न समिञ्जन्ति पण्डिता ॥६॥

शब्दार्थ—सेलो = शैल, चट्टान। एकघनो = ठोस। समीरति = हिलता है। (सं० समीर्यते)। न समिञ्जन्ति = विचलित नहीं होते (सं० समीज्यन्ते[1])।

अनुवाद—जिस प्रकार ठोस चट्टान वायु के वेग से नहीं हिलती, उसी प्रकार निन्दा और प्रशंसाओं के बीच विद्वान् लोग अविचलित रहते हैं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—काणमातु]

८२. यथापि रहदो गंभीरो, विप्पसन्नो अनाविलो।
एवं धम्मानि सुत्वान, विप्पसीदन्ति पण्डिता ॥७॥

शब्दार्थ—रहदो = तालाब (सं० ह्रदः)। विप्पसन्नो = स्वच्छ। अनाविलो = कीचड़ रहित। विप्पसीदन्ति = शुद्ध हो जाते हैं।

अनुवाद—जिस प्रकार गहरा तालाब स्वच्छ और कीचड़ रहित होता है उसी प्रकार पण्डित लोग भी धर्म वाक्यों को सुनकर शुद्ध (अन्तःकरण वाले) हो जाते हैं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्चसत भिक्खु]

८३. सब्बत्थ वे सप्पुरिसा चजन्ति[2], न कामकामा लपयन्ति सन्तो।
सुखेन फुट्ठा अथवा दुःखेन, न उच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति ॥८॥

---

१. 'ईज—गतिकुत्सनयोः' धातु से निष्पन्न।

२. सभी विद्वानों ने इसको संस्कृत छाया में 'व्रजन्ति' लिखा है जो मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों द्वारा कल्पित 'वजन्ति' पाठ के आधार पर है। मेरा अनुमान है, भाषा वैज्ञानिक परिवर्तनों के कारण संस्कृत का 'चकन्ति' पद ही पालि में 'चजन्ति' हो गया है।

शब्दार्थ—सब्बत्थ=सर्वत्र। मैक्सम्यूलर ने Whatever befall और भदन्त बुद्धघोष ने 'पञ्चखन्धादिभेदेसु' सब्बधम्मेसु अर्थ किया है। चजन्ति=संतुट होते हैं। पी० एल० वैद्य ने 'लौकिक सुखों को त्याग देते हैं' (Abandon Pleasures) और मैक्सम्यूलर ने 'वजन्ति' पाठ मानकर walk on अर्थ किया है। लपयन्ति=प्रलाप करते हैं। फुट्ठा=स्पष्ट। उच्चवचं=ऊँच-नीच या गर्व और खिन्नता।

अनुवाद—सत्पुरुष सर्वत्र सन्तुष्ट रहते हैं। कामनाओं (लौकिक सुखों) की इच्छा करने वाले सज्जन बड़बड़ाते नहीं हैं। सुख अथवा दुःख द्वारा स्पष्ट किये जाने पर विद्वान् गर्व या खिन्नता नहीं दिखाते।

विशेष—गीता में ऐसे ही व्यक्तियों को 'मुनि' या 'स्थितधी' कहा गया है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
जितरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ २-५६

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—धम्मिक थेर][1]

८४. न अत्तहेतु न परस्स हेतु, न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं।
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो, स सीलवा पञ्ञवा धम्मिको सिया॥९॥

शब्दार्थ—अत्तहेतु=अपने लिये। न पुत्तमिच्छे=पुत्र की इच्छा न करे। रट्ठं=राज्य (सं० राष्ट्रम्)। समिद्धिमत्तनो=अपनी समृद्धि। सिया=हो (सं० स्यात्)।

अनुवाद—न अपने लिये और न दूसरों के लिये ही जो न तो पुत्र की इच्छा करे और न धन तथा राजपाट की ही तथा धर्म से अपने लिये जो समृद्धि की इच्छा न करे वह शीलवान्, प्रज्ञावान् और धार्मिक है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—धम्मसमण]

८५. अप्पका ते मनुस्सेसु, ये जना पारगामिनो।
अथायं इतरा पजा, तीरमेवानुधावति॥१०॥

शब्दार्थ—अप्पका=थोड़े से (सं० अल्पकाः)। पारगामिनो=(संसार सागर से) पार चले जाने वाले। इतरा=सामान्य। पजा=प्रजा।

---

१. महाबोधि सभा, सारनाथ द्वारा प्रकाशित और ए० के० नारायण द्वारा सम्पादित पुस्तक में स्थान-पात्र का निर्देश नहीं है।

अनुवाद—मनुष्यों में वे मनुष्य बहुत थोड़े हैं जो (संसार सागर से) पार चले जाने वाले हैं (अर्थात् निर्वाण प्राप्त करते हैं) किन्तु आम लोग किनारे पर ही दौड़ते फिरते हैं।

विशेष—मैक्सम्यूलर ने दूसरी पंक्ति का अर्थ "the other people here sun up and down the shore" किया है।

८६. ये च खो सम्मदक्खाते, धम्मे धम्मानुवत्तिनो।
ते जना पारमेस्सन्ति, मच्चुधेय्यं सुदुत्तरं ॥११॥

शब्दार्थ—खो=निश्चय ही (सं० खलु)। सम्मदक्खाते=अच्छी तरह कहे जाने पर। मच्चुधेय्यं=मृत्यु के अधिकार क्षेत्र को। 'तरित्वा' क्रिया पद का अध्याहार आवश्यक है।

अनुवाद—और जो लोग अच्छी तरह कहे जाने पर निश्चित रूप से धर्म के अनुसार व्यवहार करते है। वे लोग मृत्यु के दुस्तर अधिकार क्षेत्र को (संसार-सागर को) तैरकर पार कर जायेंगे।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्चसत आगन्तुक भिक्खु]

८७. कण्हं धम्मं विप्पहाय, सुक्कं भावेथ पण्डितो।
ओका अनोक आगम्म, विवेके यत्थ दूरमं ॥१२॥

८८. तत्राभिरतिमिच्छेय्य, हित्वा कामे अकिञ्चनो।
परियोदपेय्य अत्तानं; चित्तक्लेसेहि पण्डितो ॥१३॥

शब्दार्थ—कण्हं=असत् (सं० कृष्णम्)। विप्पहाय=छोड़ कर। सुक्कं=सत (सं० शुक्लम्)। ओका=घर से। अनोकं=गृहशून्यत्व अर्थात् भिक्षु-भाव। विवेके=वैराग्य में। दूरमं=दुरम्य अर्थात् जहाँ रमना दुष्कर है। तत्राभिरतिमिच्छेय्य=(तत्र=उस वैराग्य में) आनन्द की इच्छा करे। परियोदपेय्य=शुद्ध करे (सं० पर्यवदापयेत्)। चित्तक्लेसेहि=चित्त क्लेशों से (बुद्धघोष के अनुसार 'चित्तक्लेसेहि पञ्चहि नीवरणेहि")[1]।

अनुवाद—विद्वान् असद् धर्म को छोड़कर सद्धर्म की भावना करे। घर से पृथक् हो भिक्षुत्व को प्राप्त हो, सभी कामनाओं को छोड़कर अकिञ्चन उस

---

१. पञ्च नीवरण हैं—अभिज्झा, व्यापादो, थीनमिद्धं उद्धच्चकुकुच्चं और विचिकिच्छा।

वैराग्य में आनन्द की इच्छा करे जिसमें रमना अत्यन्त दुष्कर है। विद्वान् अपने आपको चित्तगत क्लेशों से शुद्ध करे।

८९. येसं सम्बोधि अंगेसु, सम्माचित्तं सुभावितं।
आदानपटिनिसग्गे, अनुपादाय ये रता।
खीणसवा जुतीमन्तो ते लोके परिनिब्बुता ॥१४॥

शब्दार्थ—सम्बोधि अङ्गेसु = सम्यग् ज्ञान के सात अङ्गों में। सात ज्ञान के अङ्ग—संबोज्झंग हैं—१. सति, २. धम्मविचय, ३. वीरिय, ४. पीति, ५. पस्सद्धि, ६. समाधि और ७. उपेक्खा। सम्माचित्तं सुभावितं = भलीभाँति उद्बोधित मस्तिष्क। आदानपटिनिसग्गे = परिगृह के प्रति त्याग में। अनुपादाय = अनासक्तिपूर्वक। खीणसवा = वीतराग। जुतीमन्तो = दिव्य प्रकाश वाले। परिनिब्बुता = सांसारिक दुःखों से मुक्त अर्थात् सर्वाधिक सुखी।

अनुवाद—सम्यग् ज्ञान के सातों अंगों में जिनके मस्तिष्क भली-भाँति उद्बोधित हैं, जो परिग्रह के प्रति अनासक्तिपूर्वक रत हैं, जिनके (काम, भाव और अविद्या) तीन आसव नष्ट हो गये हैं तथा जो दिव्य प्रकाश वाले हैं, वे ही इस संसार में सर्वाधिक सुखी हैं।

---

७. अरहन्तवग्गो सत्तमो

[स्थान—जीवकस्स आम्रवनं (राजगह) व्यक्ति—जीवक]

९०. गतद्धिनो विसोकस्स, विप्पमुत्तस्स सब्बधि।
सब्बगन्थप्पहीनस्स, परिलाहो न विज्जति ॥१॥

शब्दार्थ—गतद्धिनो = उस व्यक्ति का जिसने संसार-यात्रा पूरी कर ली हो। सब्बधि = सभी प्रकार से (संस्कृत—सर्वधा[1]) वेवर वैदिक शब्द 'सर्वध' का

---

१. श्री सत्कारि शर्मा वङ्गीय 'प्रकार' के अर्थ में 'धा' (संस्कृत प्रत्यय) स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि 'द्विधा त्रिधा आदि में जो 'धा' प्रत्यय सुना जाता है वह प्रत्यय नहीं है (हरिनामामृत व्याकरण का सिद्धान्त गलत है)' पर ऐसा लगता है कि वङ्गीय एक अप्रचलित व्याकरण का नाम लेकर पाठकों पर अपने वैदुष्य का प्रभाव डालना चाहते हैं। स्वयं पाणिनि ने 'संख्याया विधार्थे धा' (५—३—४२) सूत्र लिखकर 'धा' प्रत्यय का विधान किया है। यह एक तद्धित प्रत्यय है जिससे एकधा, बहुधा आदि शब्द निष्पन्न होते हैं।

[ज]ालिरूप 'सब्बधि' मानते हैं। सब्बगान्थप्पहीनस्स=जिसके सभी सांसारिक [ब]न्धन टूट गये हों। 'गन्थ' जिन्हें 'कायगन्थ' भी कहा जाता है, चार हैं—अभिज्झा [ब्]यापाद, सीलब्बतपरामास और इदंसच्चाभिनिवेस। परिलाहो=दुःख। यह [प]रिदाह कायिक और चैतसिक—दो प्रकार का है। न विज्जति=नहीं रहता।

अनुवाद—संसार-यात्रा पूरी कर लेने वाले, शोक रहित, सभी प्रकार [स]े मुक्त और जिसके सभी सांसारिक बन्धन नष्ट हो गये हैं, उस व्यक्ति के लिये न तो शारीरिक और न मानसिक क्लेश ही रहता है।

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—महाकस्सप]

९१. उय्युञ्जन्ति सतीमन्तो, न निकेते रमन्ति ते।
हंसा व पल्ललं हित्वा, ओकमोकं जहन्ति ते ॥२॥

शब्दार्थ—उय्युञ्जति=प्रयत्न करते है। मैक्सम्यूलर ने गाथा २३५ में 'गमन' अर्थ में प्रयुक्त 'उपयोग' को आधार बनाकर 'they depart i. e. they leave their family and embrace an ascetic life' अर्थ किया है। सतिमन्तो=बुद्धिमान लोग। पल्ललं=तालाब को। ओकं=जल, ओकं=घर अर्थात् जलीय घर को। पी० एल० वैद्य 'ओकमोक' में दुरुक्ति देखकर dear home और मैक्सम्यूलर house and home अर्थ करते हैं। 'ओकं वुच्चति आलयो' गाथा ८७ पर बुद्धघोष का व्याख्यान।

अनुवाद—बुद्धिमान व्यक्ति (निर्वाण प्राप्त्यर्थ) प्रयत्न करते हैं, उन्हें घर से प्यार नहीं होता, वे अपने निजी घर को (निर्वाण प्राप्त्यर्थ उसी प्रकार छोड़ देते हैं जैसे हंस (अपनी सुरक्षा और आजीविका के लिये वर्षा ऋतु में) अपने जलीय घर तालाब को।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—बेलट्ठि सीस]

९२. येसं संनिचयो नत्थि, ये परिञ्ञातभोजना।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च विमोक्खो येसं गोचरो।
आकासे व सकुन्तानं, गति तेसं दुरन्नया ॥३॥

शब्दार्थ—संनिचयो=संचय का कोष। यह दो प्रकार का है—कर्म में कुशलता को 'कम्मसंनिचयो' और चार प्रत्ययों के समवाय को 'पच्चय-संनिचयो' कहते हैं। परिञ्ञातभोजना=भोजन के सम्बन्ध में सुविज्ञ। भोजन

के सम्बन्ध में तीन परिज्ञायें[1] बताई गई हैं—ञातपरिञ्ञा, तिरणपरिञ्ञा, पहानपरिञ्ञा। सुञ्ञतो = शून्य रूप। अनिमित्तो = निरपेक्ष। सकुन्तानं = पक्षियों की। दुरन्नया = कठिनाई से अनुसरण करने योग्य। मैक्सम्यूलर difficult to understand अर्थ किया है। बुद्धघोष ने भी 'न सक्कोजति' ही अर्थ किया है।

अनुवाद—जिनके पास (दोनों प्रकार का) संचय नहीं है, जो भोजन सम्बन्ध में सुविज्ञ हैं तथा जिन्हें शून्य और निरपेक्ष—दोनों ही प्रकार के मो गोचर हैं उनकी गति का अनुसरण उतना ही कठिन है जितना कि आकाश पक्षी की गति का।

विशेष—महाभारत के निम्न श्लोक में भी यही भाव प्रकारान्तर से प्रकार दिया गया है—

शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके।
पद यथा न दृश्यते तथा ज्ञानविदां गतिः॥

शान्तिपर्व, १८१।१६

भोजन की सही मात्रा के सम्बन्ध में विदुर नीति का निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—यच्छकय ग्रसितुं।

[स्थान —राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—अनुरुद्ध थर]

९३. यस्सासवा[2] परिक्खीय, आहारे च अनिस्सितो।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च, विमोक्खो यस्य गोचरो॥
आकासे व सकुन्तानं, पदं तरस दुरन्नयं॥४॥

शब्दार्थ—आहारे = विषयोपभोग। पी० एल० वैद्य ने food और मैक्स म्यूलर ने enjoyment अर्थ किया। अनिस्सितो = उदासीन (सं० अनि.सृतः)

अनुवाद—जिसके सभी चित्तगत दोष क्षीण हो गये हैं, जो विषयोपभोग में उदासीन हैं तथा जिन्हें शून्य और निरपेक्ष—दोनों ही प्रकार के मोक्ष गोचर

---

१. बुद्धघोष—'तीहि परिञ्ञाहि परिञ्ञातभोजना; यागुआद न हि यागुभावादिजाननं ञातपरिञ्ञा, आहारे पटिक्कूलसञ्ञावसेन पन भोजनस्स परिजाननं तीरणपरिञ्ञा, कबलिंकाराहारे छन्दरागअपकड्ढन ञाणं पहाणपरिञ्ञा।

२. 'आसव' चार माने गये हैं—कामासव, भावासव दिट्ठासव, अविज्जासव।

हैं, उनकी गति आकाश में उड़ते हुये पक्षी की गति के समान कठिनाई से अनुसरण करने योग्य है।

[स्थान—पुब्बाराम (सावत्थी), व्यक्ति—महाकच्चायन थेर]

९४. यस्सिन्द्रियानि समथं गतानि, अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता ।
पहीनमानस्स अनासवस्स, देवापि तस्स पिहयन्ति तादिनो ॥५॥

शब्दार्थ—समथं = शम । सुदन्ता = विनीत । पिहयन्ति = स्पृहा करते हैं (सं० स्पृह्यन्ति) । तादिनो = उस प्रकार के ।

अनुवाद— सारथि के द्वारा भली-भाँति विनीत किये गये घोड़ों के समान जिसकी इन्द्रियाँ शम भाव को प्राप्त हो गयी हैं जिसकी सभी ग्रन्थियाँ शिथिल होती जा रही हैं और जिसकी चित्तवृत्तियाँ शान्त हो गयी हैं, उस प्रकार के व्यक्ति से देवता भी स्पृहा करते हैं।

विशेष—विदुर नीति में भी ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सादिपुत्त थेर]

९५. पठवीसमो नो विरुज्झति इन्दखीलूपमो तादि सुब्बतो ।
रहदो' व अपेतकद्दमो, संसारा न भवन्ति तादिनो ॥६॥

शब्दार्थ—विरुज्झति = विरोध करता है । इन्दखीलूपमो = मन्दराचल के समान (सं० इन्द्रकीलोपमः) पी० एल० वैद्य ने like a pillar मैक्सम्यूलर ने like Indra's bolt और टीकाकार भदन्त बुद्धघोष ने 'नगरद्वारे निखातं इन्दखीलं दारकादयो ओमुत्तेन्ति पि ऊहदयन्ति पि···तत्थ पठविया वा इन्दखीलस्य वा नेव अनुरोधो उप्पज्जति न विरोधो' लिखकर 'आने वाले का न विरोध और न स्वागत करने वाले नगर के बहिर्द्वार पर गड़े हुये लकड़ी आदि से निर्मित लट्ठा के समान अच्छे व्रत वाला' वह भावार्थ किया है। पर संस्कृत वाङ्मय में 'इन्द्रकील' मन्दराचल के अर्थ बहुधा प्रयुक्त हुआ है और पर्वत किसी लट्ठे की अपेक्षा अच्छे व्रत वाला, (सुव्रत) दृढ़ प्रतिज्ञ या अविचलित अधिक हो सकता है। तादि = तादृशः । अपेतकद्दमो = कीचड़ रहित । संसारा = पुनर्जन्म ।

अनुवाद—जो पृथ्वी के समान विरोध नहीं करता, (सभी अवस्थाओं में) मन्दराचल के समान अविचलित और कीचड़ रहित तालाब के समान मलरहित हैं, उस व्यक्ति के पुनर्जन्म नहीं होते ।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—कोसाम्बिभासित तिस्स थेर]

९६. संन्तं तरस मनं होति, सन्ता वाचा च कम्म च।
सम्मदञ्ञा विमुत्तस्स, उपसन्तस्स तादिनो ॥७॥

शब्दार्थ—सन्तं=शान्त। सम्मदञ्ञा=सम्यक् ज्ञान से।

अनुवाद—उस व्यक्ति का मन, वाणी और कर्म – सभी शान्त हैं जो पहले बताये गये नियमों के द्वारा भली-भाँति शान्त और सम्यक् ज्ञान के द्वारा मुक्त हैं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सारिपुत्त थेर]

९७. अस्सद्धो अकतञ्ञू चं, संधिच्छेदो च यो नरो।
हतावकासो वन्तासो, स वे उत्तमपोरिसो ॥८॥

शब्दार्थ—अस्सद्धो=अश्रद्धालु। अकतञ्ञू=अकृतज्ञ। सन्धिच्छेदो=सेंध मारने वाला। हतावकासो=निरवकाश या कमबख्त। वन्तासो=निराश।

अनुवाद – जो व्यक्ति अश्रद्धालु, अकृतज्ञ, सेंध मारने वाला, कमबख्त और निराश है, वह निश्चय ही उत्तम पुरुष है।

विशेष—गाथा के अभिधेयार्थ से तो एक दम ऐसा लगता है मानो बौद्ध-धर्म में अनैतिकता का ही बोलबाला रहा है। परगाथा का पारिभाषिक अर्थ इस प्रकार है—

शब्दार्थ—अस्सद्धो=अन्धविश्वास रहित। अकतञ्ञू=अकृत (निर्वाण) को ज्ञ (जानने वाला)। सन्धिच्छेदो=संधि—संयोजन को काट देने वाला। हतावकासो=पुनर्जन्म का जिसे अवकाश नहीं हैं। वन्तासो=आशा—तृष्णा जिसकी छूट गयी है।

अर्थात्—

अन्धविश्वास रहित, निर्वाण को जानने वाला संयोजन को काट देने वाला, पुनर्जन्म के अवकाश से रहित और तृष्णा से परे जो व्यक्ति है, वह निश्चय ही उत्तम है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति - खादिरवनिय रेवत थेर]

९८. गामे वा यदि वरञ्ञे, निन्ने वा यदि वा थले।
यत्थारहन्तो[1] विरहन्ति, तं भूमिं रामणेय्यकं[2] ॥९॥

---

१. ना०—यत्थ अरहन्तो।   २. ना० – त भूमिरागणेय्यकं।

शब्दार्थ—अरञ्ञे = वन में। निन्ने = गहरे गड्ढे में।, मैक्सम्यूलर ने in the deep water अर्थ किया है। रामणेय्यकं = रमणीक (स० रामणीयकम्)।

अनुवाद—गाँव में अथवा जंगल में, गहरे गड्ढे अथवा जमीन पर जहाँ भी अर्हत् विहार करते हैं वह भूमि रमणीक है।

विशेष—'तं भूमिं रामणेय्यकं' वाक्य में कर्मकारक का प्रयोग व्याकरण के नियम के विरुद्ध है, प्रथमा का प्रयोग होना चाहिये था। भवन्त बुद्धघोष ने 'सो भूमिप्पदेसो रमणीयो एव' ही अर्थ किया है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अरञ्ञक भिक्खु]

९९. रमणीयानि अरञ्ञानि, यत्थ न रमती[१] जनो।
वीतरागा रमिस्सन्ति, न ते कामगवेसिनो ॥१०॥

शब्दार्थ—कामगवेसिनो = कामवासनाओं को ढूँढने वाले।

अनुवाद—वे अरण्य रमणीय है जहाँ सामान्य लोग रमण नहीं करते। (ऐसे अरण्यों में) वीतराग रमण करेंगे। (क्योंकि) वे कामवासनाओं के अन्वेषक नहीं हैं।

---

८. सहस्सवग्गो[१] अट्ठमो

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—तम्बदाठिक चोर घातक]

१००. सहस्समपि चे वाचा, अनत्थपदसंहिता।
एकं अत्थपदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति ॥१॥

शब्दार्थ—अनत्थपदसंहिता = निर्थरक पद समूह वाले। अत्थपदं = अर्थवान् पद। सुत्वा = सुन कर।

---

१. रायल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन के पुस्तकालय में प्राप्त 'महावस्तु की पाण्डुलिपि में इस अध्याय का नाम 'सहस्रवर्ग' दिया है—''तेषां भगवञ्जटिलानां धर्मपदेषु सहस्रवर्गं भाषति—

सहस्रमपि वाचनामनर्थपदसंहितानाम्।
एकार्थवती श्रेया यां श्रुत्वा उपशाम्यति ॥

विशेष विवरण के लिये देखिये—मैक्सम्यूलर, संस्करण की पाद टिप्पणी।

अनुवाद—निरर्थक पद-समूह वाले हजारों वाक्यों की अपेक्षा सार्थक ए
पद (भी) श्रेष्ठ है जिसे सुनकर शान्ति प्राप्त होती है ।

विशेष—महाभाष्य—पस्पशाह्निक में भी इसी भाव का एक वा
मिलता है—

"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञात सुष्ठु: प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति ।"

[स्थान—वेणुवन[1] व्यक्ति—दारुचीरिय थेर]

१०१. सहस्समपि चे गाथा, अनत्थपद्संहिता ।
एकं गाथापदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति ॥२॥

अनुवाद—निरर्थक पद-समूह वाली हजारों गाथाओं की अपेक्षा एक गाथ
पद श्रेष्ठ है जिसे सुनकर शान्ति प्राप्त होती है ।

विशेष—टीकाकार भवन्त बुद्धघोष ने गाथा के उदाहरणस्वरूप धम्मप
की निम्न गाथा को उद्धृत किया है—

अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं ।
अप्पमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मत्ता ॥२१॥

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—कुण्डलकेसी थेर]

१०२. यो च गाथासतं भाये, अनत्थपदसंहिता ।
एकं धम्मपदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति ॥३॥

अनुवाद—जो (कोई) मनुष्य निरर्थक पद-समूह वाली सैकड़ों गाथा
को भले ही कहे (वे श्रेष्ठ नहीं हैं) उनसे धर्म का एक पद (भी) श्रेष्ठ है जि
सुनकर शान्ति प्राप्त होती है ।

१०३. यो सहस्सं सहस्सेन, संगामे मानुसे जिने ।
एकं च जेय्यमत्तानं, स वे संगामजुत्तमो ॥४॥

शब्दार्थ—जिने = जीत ले । जेय्यमत्तान = जीतने योग्य अपने को । सं
मजुत्तमो = संग्राम जीतने वालों में उत्तम ।

अनुवाद—जो व्यक्ति अकेला ही संग्राम में लाखों मनुष्यों को जीत
(उससे भी श्रेष्ठ है) जो जीतने योग्य अपने आपको जीत लेता है । वही संग्र
जीतने वालों में उत्तम है ।

---

१. ए० के० नागराज वाले संस्करण मे स्थान 'जेतवन' दिया गया है ।

विशेष—इस पद्य की प्रथम पंक्ति का अर्थ मैक्सम्यूलर ने If one man conquer in battle a thousand times thousand men" किया है जिसका अनुसरण अधिकांश विद्वानों ने 'जो मनुष्य युद्ध में हजारों मनुष्यों को हजारों बार जीत लेवे" लिखकर किया है। पर टीकाकार भदन्तघोष ने "यो एको संगामयोद्धो सहस्सेन गुणितं सहस्सं मानुसे एकस्मि संगामे जिनेय्य" अर्थ किया है, वही अर्थ हमें भी मान्य है।

तुलनीय—"जितं जगत् केन ? मनो हि येन।"

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अनत्थपुच्छक (ब्राह्मण)]

१०४. अत्ता हवे जितं सेय्यो, या चायं इतरा पजा।
अत्तदन्तस्स पोसस्स, निच्चं संयतचारिनो ॥५॥
१०५. नेव देवो न गन्धब्बो, न मारो सह ब्रह्मुना।
जितं अपजितं कयिरा, तथारूपस्स जन्तुनो ॥६॥

शब्दार्थ—अत्ता=आत्मा। अत्तदन्तस्स=आत्मदमन करने वाले का। पोसस्स=पुरुष की। गाईगर आदि भाषाविद् भारोपीय 'पूर्ष' शब्द से 'पुरुष' और 'पोस' की निष्पत्ति मानते है। कच्चायन व्याकरण में 'पूर' धातु से इस' प्रत्यय कर 'पुरिश' शब्द की व्युत्पत्ति बनायी गयी है। इसी से पोरिस—पोर्स—पोस्स—पोस शब्द की निष्पत्ति स्वाभाविक है। तथारूपस्स=उस प्रकार के। जितं=जीत को। 'अत्ता' (पुं०) के साथ 'जित' (नपुं० के गलत प्रयोग को बुद्धघोष ने लिङ्ग व्यत्यय माना है—'जित तिलिंगविपल्लासो।'

अनुवाद—और जो अन्य प्रजा है उसकी अपेक्षा आत्मा को जीतना निश्चय ही श्रेष्ठ है। आत्मसंयमी, संयत आचरण वाले पुरुष की जीत को—उस प्रकार के प्राणी की जीत को न देवता, न गन्धर्व और न ब्रह्मा सहित मार ही पराजय बना सकता है।

[स्थान—वेणुगवन, व्यक्ति—सारिपुत्तथेर मातुल]

१०६. मासे मासे सहस्सेन, यो यजेथ सतं सम।
एकं च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये।
सा[1] एव पूजना सेय्या[2], यं चे वस्ससतं हुतं ॥७॥

---

१. ना०—सायेव। २. ना० सेय्यो।

शब्दार्थ—सम = वर्ष । वस्ससतं = सौ वर्ष तक । हुतं = यज्ञ ।

अनुवाद - (एक ओर) जो मनुष्य सौ बरस तक हजारों (रुपयों) के द्वारा यज्ञ करे और (दूसरी ओर) आत्मस्वरूप को जानने वाले एक ही व्यक्ति की क्षणमात्र पूजा करे तो वही पूजा सौ वर्ष तक किये गये हवन (यज्ञ) की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

विशेष—इन गाथाओं (१०६, १०७, १०८) में यज्ञादि कर्मों की निस्सारता ज्ञान-यज्ञ के परिप्रेक्ष्य में बताई गई है। ऐसा ही भाव मुण्डकोपनिषद् में भी दीख पड़ता है—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥
(१—२—१०)

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—सारिपुत्त भागिनेयय]

१०७. यो च वस्ससत जन्तु, अग्गिं परिचरे वने ।
एकं च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये ।
सा[1] एव पूजना सेय्य[2], यं चे वस्ससतं हुतं ॥८॥

अनुवाद—और (एक ओर) जो प्राणी वन में सौ वर्ष तक अग्नि की परिचर्या करे (अर्थात् अग्नि से तपता रहे) किन्तु (दूसरी ओर) आत्मतत्व जानने वाले एक ही व्यक्ति की क्षणमात्र पूजा करे तो वही पूजा सौ वर्ष तक किये गये हवन की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

विशेष—आत्मानन्द की श्रेष्ठता का वर्णन भर्तृहरि ने वैराग्यशतक में करते हुये अन्य सभी कर्मकाण्डों की भी निन्दा की है—

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः,
स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कार्मक्रियाविभ्रमैः ।
मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं,
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषावणिग्वृत्तयः ॥६७॥

[स्थान—वेणुवन,—व्यक्ति—सारिपुत्रमित्र ब्राह्मण]

---

१. ना०—सायेव । २. ना०—सेय्यो ।

१०८. यं किंचि यिट्ठं[1] हुतं[2] लोके,
संव च्छरं यजेथ पुञ्ञपेक्खो ।
सब्बं पि तं न चतुभागमेति,
अभिवादना उज्जुगतेसु सेय्यो ॥९॥

शब्दार्थ—पञ्ञपेखो=पुण्य की अपेक्षा करने वाला (पुञ्ञं अपेक्खतेऽति पुञ्ञपेक्खो । उज्जुगतेसु=सद्वृत्ति वालों में (बुद्धघोष—उज्जुगशतेसुति हेट्ठिम-कोटिया सोतापन्नेसु उपरिमकोटिया खीणासवेसु) ।

अनुवाद—पुण्य की अपेक्षा करने वाला मनुष्य इस लोक में पूरे वर्ष तक जो कुछ भी यज्ञ आदि करता है वह सबका सब भी सद्वृत्ति वाले मनुष्यों के प्रति किये गये श्रेष्ठ अभिवादन के चतुर्थांश तक भी नहीं पहुँच पाता ।

विशेष—गोस्वामी तुलसीदास के निम्नलिखित दोहे से तुलना कीजिये—

तात स्वर्ग-अपवर्ग सुख धरिय तुला इक अंग ।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव-सत्संग ॥

[स्थान—अरञ्जकुटिका, व्यक्ति—दीघायुकुमार]

१०९. अभिवादनसीलिस्स[3] निच्चं वद्धापचायिनो ।[4]
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति, आयु वण्णो सुखं बलं ॥१०॥

अनुवाद—अभिवादनशील और हमेशा वृद्धजनों की सेवा में तत्पर रहने वाले व्यक्ति के चार धर्म—आयु, वर्ण, सुख और बल बढ़ते हैं ।

विशेष—ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धों ने स्वाभिमत के स्पष्टीकरण के लिये ही मनुस्मृति में पाये जाने वाले निम्न श्लोक में विद्या और यश के स्थान पर क्रमशः वर्ण और सुख को स्थान दिया है, क्योंकि बुद्ध जन्मना जाति या वर्ण नहीं मानते थे और सुख की खोज में तो उन्होंने गृहत्याग किया ही था—

अभिवादनशीलस्य नित्य वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ २—१२१

इस पर मैक्सम्यूलर तथा फजबोल का यह मत कि उक्त गाथा का भाव

---

१. ना०—च । २. पू०—संवत्सरं ।
३. पू०—अभिवादन सीलस्य । ४. सि०— बद्धापचायिनो ।

बौद्धों ने निश्चय ही ब्राह्मण धर्म के ग्रन्थों से लिया है, उचित जान पड़ता है क्योंकि आपस्तम्बक धर्मसूत्र १ । २ । ५ । १५ में तथा अन्य स्मृति-ग्रन्थों में भी ऐसे भाव पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं—

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—संकिच्च सामणेर]

११०. यो च वस्ससतं जीवे, दुस्सीलो असमाहितो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो, सीलवन्तस्स झायिनो ॥११॥

अनुवाद—जो दुराचारी और असंयमी व्यक्ति है वह सौ वर्ष तक (भले ही) जीवित रहे पर व्यर्थ है (उसकी अपेक्षा) शीलवान् और ध्यानी व्यक्ति का एक दिन का भी जीवन श्रेष्ठ है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—(खाणु) कोण्डञ्ञ थेर]

१११. यो च वस्ससतं जीवे, दुप्पञ्ञो असमाहितो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पञ्ञावन्तस्स[1] झायिनो ॥१२॥

अनुवाद—जो दुर्बुद्धि और असंयमी व्यक्ति है वह सौ वर्ष तक (भले ही) जीवित रहे (पर व्यर्थ हैं, उसकी अपेक्षा) प्रज्ञावान् और ध्यानी व्यक्ति का एक दिन का भी जीवन श्रेष्ठ है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सप्पदास थेर]

११२. यो च वस्ससतं जीवे, कुसीतो हीनवीरयो ।
एकाहं जीविकं सेय्यो, विरियमारभतो दलहं ॥१३॥

शब्दार्थ—कुसीतो = आलसी । मैक्सम्यूलर ने पालि शब्द 'कुसीत' को ही बौद्ध संस्कृत का 'कुसीद' शब्द बताया है । पर गवेषणा से पता चलता है कि मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, पञ्चतन्त्र आदि प्राचीन ग्रन्थों में 'कुसीद' का पर्याप्त प्रयोग हुआ है । (देखिये—आप्टे का संस्कृतकोष) अतः म्यूलर का मत भ्रमात्मक ही है, क्योंकि संस्कृत में बौद्ध-ग्रन्थों का लेखन तो मनुस्मृति, पञ्चतन्त्र आदि के बाद ही हुआ है ।

अनुवाद—जो आलसी और हीनवीर्य व्यक्ति है वह सौ वर्ष तक (भले ही) जीवे (पर व्यर्थ है. उसकी अपेक्षा) दृढ़तापूर्वक वीर्य (प्रयत्न) प्रारम्भ कर देने वाले व्यक्ति का एक दिन का भी जीवन श्रेष्ठ है ।

---

१. ना०—पञ्ञवन्तस्स ।

विशेष—पराक्रम या प्रयत्न में दृढ़ व्यक्ति सदा ही कल्याण प्राप्त करते हैं—धम्मपदं की गाथा २३ ।

पञ्चतन्त्र का निम्न श्लोक इसी भाव को कितने सुन्दर शब्दों में व्यक्त कर रहा है—

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
विज्ञानशौर्यविभवार्यगुणैः समेतम् ।
तन्नामजिवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञः,
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते । १–२४

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पटाचारा थेरी]

११३. यो च वस्ससतं जीवे, अपस्स उदयव्ययं[1] ।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो उदयव्ययं ॥१४॥

शब्दार्थ—अपस्सं=न देखता हुआ । उदयव्यय=संस्कार आदि पञ्च-स्कन्धों की उत्पत्ति और विनाश को (टिका०—पञ्चन्नं खन्धानं पञ्चवीसतिया लक्खणेहि उदयं च व्ययं च) ।

अनुवाद—और जो (पञ्चस्कन्धों की उत्पत्ति और विनाश को न देखता हुआ सौ वर्ष तक जीता है (उसकी अपेक्षा) उस उत्पत्ति और विनाश को देखने वाले व्यक्ति का एक दिन का भी जीवन श्रेष्ठ है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—किसागोतमी]

११४. यो च वस्ससतं जीवे, अपस्स अमत पदं ।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो अमतं पदं ॥१५॥

अनुवाद—और जो अमृतपद (निर्वाण) को न देखता हुआ सौ वर्ष तक जीता है (उसकी अपेक्षा) अमृतपद को न देखने वाले व्यक्ति का एक दिन का भी जीवन श्रेष्ठ है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—बहुपुत्तिका थेरी]

११५. यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं धम्ममुत्तमं ।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो धम्ममुत्तमं ॥१६॥

अनुवाद—और जो उत्तम धर्म को न देखता हुआ सौ बरस तक जीता है (उसकी अपेक्षा) उत्तम धर्म को न देखने वाले व्यक्ति का एक दिन का भी जीवन श्रेष्ठ है ।

---

१. ब्र०—उदयब्बयं ।

९. पापवग्गो नवमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—चुलेकसाटक (ब्राह्मण)]

११६. अभित्थरेथ कल्याणे[1], पापा चित्तं निवारये।
दन्धं हि करोतो[2] पुञ्ञं, पापस्मिं रमती मनो ॥१॥

शब्दार्थ—अभित्थरेथ = शीघ्रता करे। दन्ध = देरी इसकी व्युत्पत्ति सन्दिग्ध है। सम्भव है संस्कृत के 'तन्द्र' से पालिरूप प्रसूत हुआ हो।

अनुवाद—कल्याणकारी (शुभ) कार्यों में शीघ्रता करे। पाप कर्म से मन को दूर करे। पुण्य कर्म के करने में देरी करने पर मन पाप में रम जाता है।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—सेय्यसक थेर]

११७. पापं चे पुरिसो कयिरा, न तं कयिरा पुनप्पुनं।
न तम्हि छन्दं कयिराथ, दुक्खो पापस्य उच्चयो ॥२॥

शब्दार्थ—छन्दं = इच्छा। 'अभिप्रायवशौ छन्दौ' अमरकोष के वाक्य के अनुसार 'वश' अर्थ लेने पर तृतीय पाठ का अर्थ होगा—'पाप के वश में न हो।' उच्चयो = समुच्चय।

अनुवाद—यदि मनुष्य पाप का आचरण करे, तो उसे बार-बार न करे। उस (पापकर्म) में इच्छा न करे (क्योंकि) पाप का समुच्चय ही दुःख है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—लाजदेव की कन्या]

११८. पुञ्ञं चे पुरिसो कयिरा, कयिराथेतं पुनप्पुनं।
तम्हि छन्दं कयिराथ, सुखो पुञ्ञस्स उच्चयो ॥३॥

अनुवाद—यदि मनुष्य पुण्यकर्म करे तो उसे बार-बार करे, उसमें इच्छा करे (क्योंकि) पुण्यों का समुच्चय (ही) सुख है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अनाथपिण्डिक सेट्ठि]

११९. पापो पि पस्सति भद्रं, याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं, अथ पापो पापानि पस्सति ॥४॥

शब्दार्थ—पापो पि = पापी भी। भद्रं = कल्याण को। याव = जब तक।

अनुवाद—जब तक पाप फल नहीं देता, पापी भी कल्याण देखता है और जब पाप फल देता है तो पापी (अपने) पापों को देखता है।

---

१. सिं०—कल्याणो। २. पू—करोन्तो।

विशेष—इसी भाव को महर्षि बाल्मीकि ने दूसरे ढङ्ग से व्यक्त किया है—

ननु सद्योऽविनीतस्य दृश्यते कर्मणः फलम् ?
कालोऽप्यङ्गी भवत्यत्र सस्यानामिव पंक्तये ।।

—रामायण, ३।४६।२७

१२०. भद्रो पि पस्सति पाप, याव भद्रं न पच्चति ।
यदा च पच्चति भद्रं, अथ भद्रो भद्रानि पस्सति ।।५।।

अनुवाद—जब तक शुभकर्म फल नहीं देता, भला आदमी भी पाप (कर्मों) की ओर ही देखता है और जब शुभकर्म फल देता है तो भला आदमी भलाई (शुभकर्म) को देखता है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—असञ्ञतपरिक्खार भिक्खु]

१२१. माप्पमञ्ञेथ[1] पापस्स. न मन्त[2] आगमिस्सति ।
उदबिन्दुनिपातेन, उदकुम्भो पि पूरति ।
पूरति बालो[3] पापस्स, थोकथोकं[4] पि आचिनं ।।६।।

शब्दार्थ—माप्पमञ्ञेथ = अवहेलना न करे (सं० माप्रमन्येत) । उदबिन्दु-निपातेन = जल की बूंद-बूंद गिरने से । उदकुम्भो = जल का घड़ा । थोकथोकं पि = थोड़ा-थोड़ा भी । आचिनं = एकत्रित करता हुआ (आ + √चि से निष्पन्न) ।

अनुवाद—पाप की अवहेलना न करे कि वह मेरे पास नहीं आयेगा । जल की बूंद-बूंद गिरने से जल का घड़ा भी भर जाता है । पाप का थोड़ा-थोड़ा भी संचय करता हुआ मूर्ख पाप का (घड़ा) भर लेता है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—बिलालपाद सेट्ठि]

१२२. मावमञ्ञेथ पुञ्ञस्स, न मन्तं आगमिस्सति ।
उदबिन्दुनिपातेन, उदकुम्भो पि पूरति ।
धीरो पूरति पुञ्ञस्स, थोकथोकं पि आचिनं ।।७।।

अनुवाद—पुण्य की अवहेलना न करे कि वह मेरे पास नहीं आयेगा । जल की बूंद-बूंद गिरने से जल का घड़ा भी भर जाता है । पुण्य का थोड़ा-थोड़ा भी संचय करता हुआ धैर्यवान् व्यक्ति पुण्य का घड़ा भर लेता है ।

---

१. ब्र०—मावमञ्ञेथ । २. ना०—मन्तं, ब्र० + मन्दं ।
३. स्या०—आपूरति बालो । ४. ब्र०—थोकं थोकं पि ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—महाधन वाणिक्]

१२३. वाणिजो व भयं मग्गं अप्पसत्थो महद्धनो ।
विसं जीवितुकामो व, पापिनि परिवज्जये ॥८॥

शब्दार्थ—मग्गं=मार्ग को । अप्पसत्थो=थोड़े साथियों वाला या छो काफिले वाला । चारुचन्द्र वसु ने 'अल्पशस्त्रः' अर्थ किया है । सार्थ[1] का अ काफिला होता है—'सार्थो वणिक् समूहे स्यात्' मेदिनी ।

अनुवाद—छोटे काफिले वाला महाधनी व्यापारी जिस प्रकार भययु मार्ग को छोड़ देता है, उसी प्रकार जीने की इच्छा रखने वाला पापों को वि के समान छोड़ दे ।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—कुक्कुटमित्त (नेसाद[1])]

१२४. पाणीम्हि चे वणो नास्स, हरेय्य पाणिना विसं ।
नाब्बणं विसमन्वेति, नत्थि पापं अकुब्बतो ॥९॥

शब्दार्थ—वणो=घाव (सं० व्रण) । नास्स=न हो, संस्कृत न स्यात् । कु संस्करणों में इसकी संस्कृत छाया 'नास्य' दी गयी है । नाब्बण=घाव रहित

अनुवाद—यदि हाथ में घाव न हो तो हाथ से विष ले ले, (क्योंकि) वि घाव रहित (अङ्ग) पर प्रभाव नहीं छोड़ता । (उसी प्रकार) न करने वाले पाप नहीं है ।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—कोक (सुनखलुद्दक[2])]

१२५. यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति,
सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स ।
तमेव बालं पच्चेति पापं,
सुखुमो रजो पटिवातं व खित्तो ॥१०॥

शब्दार्थ—अप्पदुट्ठस्स=दोष रहित(सं० अप्रदुष्ट) । अनङ्गणस्स=निर्लि निरञ्जन । पालि में अनङ्ग' शब्द साक्षात् संस्कृत का 'अनङ्ग' न होकर संस्क 'अञ्जन' का विकृत रूप है । इस प्रकार 'अनङ्गण' का अर्थ होगा—निरञ्ज

---

१. देखिये रघुवंश १७।६४ पर मल्लिनाथ । २. कुत्ते का शिकारी ।
३. 'निरञ्जनो निर्लेपो विगतक्लेशः' मुण्डक, ३।१।३ पर शाङ्करभाष्य बुद्धघोष ने भी 'अनङ्गणस्स' का अर्थ निक्किलेसस्स ही किया है ।

पटियेति = पीछा करता है। सुखुमो = सुक्ष्म। पटिवातं = वायु के विपरीत। खित्तो = फेंका हुआ।

अनुवाद—जो दोषरहित, शुद्ध एवं निर्लिप्त पुरुष को दोष लगाता हैं, पाप, वायु के विपरीत फेंकी हुई महीन धूल के समान उसी खंख का पीछा करता है।

विशेष—यही गाथा सुत्तनिपात के १० वें सुत्त 'कोकालि' क सुत्त की छठी गाथा है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—मणिकार (कुलूपग) तिस्स थेर]

१२६. गब्भमेके उप्पज्जन्ति, निरयं पापकम्मिनो।
सग्गं सुगतिनो यन्ति, परिनिब्बन्ति अनासवा ॥११॥

शब्दार्थ—निरयं = नरक। इसी अर्थ में निरय' का प्रयोग संस्कृत में भी होता है। जैसे—'निरयनगरद्वारमुद्घाटयन्ती' भर्तृहरि. १।६३।

अनुवाद—कुछ व्यक्ति गर्भ में उत्पन्न होते हैं पापकर्मा नरक में गिरते हैं। सन्मार्ग पर चलने वाले स्वर्ग को जाते हैं और वासनाओं से शून्य चित्त वाले (वीतराग) निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—तीन भिक्खु]

१२७. न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे,
न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो,
यत्थट्ठितो मुञ्चेय्य पापकम्मा ॥१२॥

शब्दार्थ—विवरं = गुफ़ा। पविस्स = घुसकर। विज्जती = विद्यमान है। मुञ्चेय्य = बच सके (सं० मुच्येत)।

अनुवाद—न अन्तरिक्ष में, न समुद्र के बीच में, न पर्वतों की गुफा में घुसकर—संसार में कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ रहकर पापकर्मा (पाप के फलों से) बच सके।

विशेष—'पापकर्म से बच नहीं सकता' (Not in the sky···a man might be freed from an evil dead) मैक्समूलर का यह अर्थ मान लेने पर तो संसार में जन्म लेने पर प्राणी निश्चित रूप से पापी होगा तब बोधिसत्व

या स्वयं बुद्ध भी संसार में जन्म लेने के कारण पाप से मुक्त नहीं हो सक खीणासव होने पर ही बुद्धत्व लाभ होता है। अतः 'पापकम्मा' का अर्थ 'पापकर्म (पञ्चमी विभक्ति न लेकर 'पापकर्मा' लेना ही उचित होगा।

[स्थान—निग्रोध आराम (कपिलवत्थु) व्यक्ति—सुप्पबुद्ध सक्क[1]]

१२८. न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे,
न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो,
यत्थट्ठितं[2] नप्पसहेय्य मच्चु ॥१३॥

शब्दार्थ—नप्पसहेय्य=न सतावे सं० न प्रसहेत)।

अनुवाद—न अन्तरिक्ष, में, न समुद्र के बीच में, न पर्वतों की गुफाओं घुसकर—संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां रहने वाले (व्यक्ति) को मौ न सतावे।

---

१०. दण्डवग्गो दसमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—छब्बगीय भिक्खु]

१२९. सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तान उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ॥१॥

शब्दार्थ—तसन्ति=डरते है। भायन्ति=भयभीत होते हैं।

अनुवाद—सभी (प्राणी) दण्ड से डरते हैं, सभी मृत्यु से भयभीत होते हैं। (अतः) अपने समान (सभी को) मानकर न किसी को मारे (और) न मारने को प्रेरित करे।

विशेष—किसी प्राणी को स्वयं चोट पहुँचाना ही नहीं चोट पहुंचाने की प्रेरणा भी नहीं देनी चाहिये। जो व्यक्ति न दण्ड देता है और न दण्ड देने के लिये प्रेरित करता है, विदुर ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है—

'अतिवादं न प्रवदेन्न वादयेद् योऽनाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत्।
हन्तुं च यो नेच्छति पापकं वे, तस्मै देवाः स्पृहयन्त्यागताय॥
(विदुरनीति ४–११)

---

१. शाक्य। 　　२. स्या—यत्थट्ठितो।

१३०. सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ॥२॥

अनुवाद—सभी (प्राणी) दण्ड से डरते हैं, सभी मृत्यु से भयभीत होते हैं। (अत:) अपने समान (सभी को) मानकर न किसी को मारे (और) न मारने को प्रेरित करे।

विशेष—यही भाव हितोपदेश के निम्न श्लोक में भी निहित है—

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दया कुर्वन्ति साधवः ॥

और—आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सम्बहुल कुमार[1]]

१३१. सुखकामनि भूतानि, यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो न लभते सुखं[2] ॥३॥

शब्दार्थ—सुखमेसानो = सुख की इच्छा करता हुआ। पेच्च = मरकर (सं० प्रेत्य)।

अनुवाद—अपने सुख की इच्छा करता हुआ जो (मनुष्य) सुख चाहने वाले प्राणियों को दण्ड (शस्त्र) से मारता है वह मर कर भी सुख नहीं पाता।

विशेष—फजबोल महाशय ने इसी गाथा से मिलते-जुलते दो श्लोकों को उद्धृत किया है—महाभारत अनुशासन पर्व से—

अहिंसकानि भूतानि दण्डेन विनिहन्ति यः।
आत्मनः सुखमिच्छन् स प्रेत्यनैव सुखी भवेद् ॥११३।५

और मनुस्मृति से—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥५।४५

मैक्सम्यूलर ने उपर्युक्त दोनों श्लोकों को प्रकृत गाथा का ही किञ्चित्परिवर्तन के साथ संस्कृत रूपान्तर माना है—

---

१. बहुत से लड़के उदान पालि २-४-७ में 'जेतवने' अनाथपिण्डिकस्स आरामे' स्थान है।
२. गाथा १३१ तथा १३२ अपने अविकल रूप में उदानपालि के दण्डसुत्त में उद्धृत हुई है।

If it were not अहिंसकानि in which Manu and Mahabharat agree; I should say the verses in both were Sanskrit modifications of Pali original. The verse in the Mahabharat presupposes the verse of the Dhamapada.

१३२. सुखकामिनि भूतानि, यो दण्डेन न हिंसति ।
अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो लभते सुखं ॥४॥

अनुवाद—अपने सुख की इच्छा करता हुआ जो (मनुष्य) सुख चाहने वाले प्राणियों को दण्ड द्वारा नहीं सताता वह मरकर (भी) सुख प्राप्त करता है।

विशेष—प्राणी मात्र को अभयदान देना ही सर्वोत्कृष्ट दान है, जिसका फल अत्युत्तम कहा गया है—

न गोप्रदान न महीप्रदान, न चान्नदानं हि तदा प्रधानम् ।
यथा वदन्तीह बुद्धाः प्रधानं, सर्वप्रदानेष्वभयदद्वानम् ॥
(पंचतन्त्र, १।३१३)

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—कुण्डधान थेर]

१३३. मावोच फरुसं कञ्चि, वुत्ता पटिवदेय्यु तं ।
दुक्खा हि सारम्भकथा, पटिदण्डा फुसेय्यु तं ॥५॥

शब्दार्थ=फरुसं=कठोर । 'कञ्चि=कुछ (सं० किञ्चत्) । वुत्ता=सं० उक्ताः । सारम्भकथा=क्रोधयुक्त वाक्य । फुसेय्यु=स्पर्श करेगा (सं० स्पृशेयुः)।

अनुवाद—किंचिन्मात्र भी कठोर वचन मत बोलो (क्योंकि कठोरता से बोले गये मनुष्य) तुम्हारे प्रति (भी) वैसा ही बोलेंगे। क्रोधयुक्त दुःखदायी होते हैं (उन्हें बोलने से) दण्ड तुम्हारा ही उल्टा स्पर्श करेगा।

१३४. स चे नेरेसि अत्तानं, कंसो उपहतो यथा ।
एस पत्तोसि निब्बानं, सारम्भो ते न विज्जति ॥६॥

शब्दार्थ—नेरेसि=न+ईरेसि=नहीं बोलते हो अर्थात् निःशब्द हो। भदन्त बुद्धघोष ने 'स चे निच्चल कातुं सक्खिस्ससि' लिखकर 'निश्चल' अर्थ किया है। यह चिन्त्य है। 'ईर्' धातु का प्रयोग 'गति' के साथ-साथ 'शब्द करने' के अर्थ में भी होता है जैसे— इतीरयन्तीव तथा निरैक्षि' (नैषध, १४।११। उपहतो=टूटा हुआ। पत्तोसि=प्राप्त हो।

अनुवाद—यदि अपने आपको निःशब्द कर लो जैसे टूटा हुआ कासा, तो तुमने निर्वाण प्राप्त कर लिया (और) तुम्हारे प्रति क्रोधयुक्त वचन नहीं रहे।

[स्थान—पुब्बाराम (सावत्थी), व्यक्ति—विसाखादि उपासिका]

१३५. यथा दण्डेन गोपालो, गावो पाचेति[1] गोचरं।
एवं जरा च मच्चु च, आयु पाचेन्ति पाणिनं ॥७॥

शब्दार्थ—पाचेति=हांक कर ले जाता है (सं० प्राजयति)। गोचरं=चरागाह। पाणिनं=प्राणियों की।

अनुवाद—जैसे ग्वाला गायों को लाठी से हांक कर चरागाह में ले जाता है वैसे ही बुढ़ापा और मौत प्राणियों की आयु को ले जाते हैं।

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति - अजगर पेत]

१३६. अथ पापानि कम्मानि, करं बालो न बुज्झति।
सेहि कम्मेहि दुम्मेधो, अग्गिदड्ढो व तप्पति ॥८॥

शब्दार्थ—करं=करता हुआ। बुज्झति=समझता है। सेहि=अपने (सं० स्वैः)। अग्गिदड्ढो व=आग से जले हुये की तरह।

अनुवाद—पापकर्म करता हुआ मूर्ख (उसे) नहीं समझता (बाद में दुर्बुद्धि) अपने ही कर्मों के कारण आग से जले हुये की तरह सन्तप्त होता है।

विशेष—हिन्दी के कवि गिरिधर की निम्न कुण्डली से भी यही आशय ध्वनित होता है—

बिना विचारे जो करै, सो पाछे पछिताय।
काम बिगारै आपनो, जग में होत हँसाय ॥
जग में होत हँसाय, चित्त में चैन न पावे।
खान-पान-सम्मान, राग-रङ्ग मनहिं न भावे ॥
कह गिरिधर कविराय, दुःख कछु टरत न टारे।
खटकत है मन माहिं, कियो जो बिना विचारे ॥

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—महामोग्गलान थेर]

१३७. यो दण्डेन अदण्डेसु, अप्पदुट्ठेसु दुस्सति।
दसन्नमञ्ञतरं ठानं, खिप्पमेव निगच्छति ॥९॥

---

१. ब्र०—पाजोति, (सं० प्र+अज्)

शब्दार्थ—अदण्डेसु = दण्ड के अयोग्य व्यक्तियों में। अप्पदुट्ठेसु = निरपराधों में। दसमञ्ञतरं = दश स्थितियों में से एक को।

अनुवाद—जो मनुष्य दण्ड के अयोग्य (और) निरपराध व्यक्तियों के प्रति द्वेष करता है वह शीघ्र ही (निम्नलिखित) दश (स्थितियों) में से किसी एक को प्राप्त होता है।

१३८. वेदन फरुसं जानिं, सरीरस्स च भेदनं।
गरुकं वापि आबाध, चित्तक्खेपं व पापुणे ॥१०॥

शब्दार्थ—जानिं = हानि। बुद्धघोष लिखते हैं—'किच्छाधिगतस्स धनस्स जानिं हानिं।" इसी आधार पर मैक्समूलर ने loss of money अर्थ किया है। इसका मूल संस्कृत 'ज्यानि' है जिसका एक अर्थ 'बुढ़ापा' भी है। गरुकं = भारी (अल्पार्थे 'क' प्रत्ययः)। आबाधं = बीमारी। चित्तक्खेपं = पागलपन। पापुणे = प्राप्त करता है (सं० प्राप्नुयात्)।

अनुवाद—प्रचण्ड वेदना, धनहानि (या असमय में ही बुढ़ापा), अङ्गभङ्ग, भारी बीमारी अथवा पागलपन को प्राप्त करता है।

१३९. राजतो वा उपसग्गं[1], अब्भक्खानं व दारुणं।
परिक्खयं व ञातीनं, भगानं व पभङ्गुणं[2] ॥११॥

शब्दार्थ—राजतो = राजा से। उपसग्गं = संस्कृत 'उपसर्ग' के बीच (क्षीणं हन्युश्चोपसर्गाः प्रभूताः—सुश्रुत), दुर्भाग्य और नुकसान (रत्नाकर १—१०)। अब्भक्खानं दारुणं = दारुण अभियोग, (बुद्धघोष—अदिट्ठ अस्सुत अचिन्तितपुब्बं इदं सन्धिच्छेदकम्मं इदं वा राजापराधितकम्मं तया कतं एवरूपं दारुणं अब्भक्खानं)। सं० अभ्याख्यानम्। परिक्खयं = नाश। पभङ्गुणं = क्षय।

अनुवाद—अथवा राजा से नुकसान अथवा दारुण निन्दा अथवा जातिभाइयों का विनाश अथवा भोगों का क्षय।

१४०. अथवस्स अगारानि अग्गि डहति पावको।
कायस्स भेदा दुप्पञ्ञो, निरयं सोपपज्जति ॥१२॥

शब्दार्थ—अथवस्स = अथवा। अस्स = इसके। अगारानि = घरों को

---

१. सि—उपस्सग्गं। २. अ०—पभगुरं, ए० के० नारायण—पभंगुणं

अग्गि = अग्नि । 'पावको' का अर्थ भी यदि 'अग्नि' माना जाय तो गाथा में पुनरुक्ति दोष होगा । पावकः = तीन, अर्थात् त्रिविध अर्थ लेना ही समीचीन होगा । कायस्सभेदा = शरीर नष्ट होने से । उपपज्जति = प्राप्त होता है (सं० उपपद्यते) ।

अनुवाद—अथवा इसके उरो को त्रिविध अग्नि जला देती है । वह दुर्बुद्धि शरीर नष्ट होने के बाद नरक को प्राप्त होता है ।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—बहुभण्डिक भिक्खु] .

१४१. न नग्गचरिया न जटा न पङ्का,
नानासका थण्डिलसायिका वा ।
रजो च जल्लं उक्कुटिकप्पधानं,
सोधन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं ॥१३॥

शब्दार्थ—नग्गचरिया = नग्न रहना । पङ्का = कीचड़ । नानासका = न + अनशन् । थण्डिलसायिका = कड़ी भूमि पर शयन । रजो च जल्लं = जलीय रज । बुद्धघोष = कद्दमलिम्पनाकारेन सरीरं संनिचितरजो । उक्कुटिकप्पधानं = उत्तान-शयन (पाश्चात्य विद्वान् Clough ने the act of sitting on the heels और विसल्न ने sitting on the hams (जंघाओं के बल बैठना). प्पधानं = अभ्यास । सोधेन्ति = शुद्ध करते हैं । मच्चं = मर्त्य को । अविति्ण्णकङ्खं = जिसकी आकांक्षायें समाप्त नहीं हुई अर्थात् साकांक्ष ।

अनुवाद – साकांक्ष मनुष्य को न तो नग्न रहना, न जटायें, न (शरीर में लपेटी हुई) कीचड़, न अनशन (उपवास) या कड़ी भूमि पर शयन, न जलीय रज और न उत्तानशयन का योगाभ्यास (ही) पवित्र कर सकते हैं ।

विशेष—इस गाथा में अन्य मतावलम्बियों के योगाचारों पर आक्षेप किया गया है । दिगम्बर जैन नंगे रहते हैं, अवधूत जटायें रखाते हैं, शरीर पर कीचड़ आदि लगाते हैं, वैदिक और पौराणिक कड़े उपवासों में विश्वास रखते हैं, शैव भस्म धारणा करते हैं और हठयोगी शरीर को कठोर यातनायें देकर कृश करते हैं । भगवान् बुद्ध इन सब में विश्वास नहीं रखते थे । दिव्यावदान में यही गाथा इस प्रकार है—

न नग्नचर्या न जटा न पङ्को, नानशनं स्थण्डिलशायिका वा ।
न रजोमलं नोत्कुटुकप्रहाण, विशोधयेन्मोहवितीर्णकाङ्क्षम् ॥२३।२

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सन्तति महामत]

१४२. अलंकतो चे पि समं चरेय्य सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी ।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खु ॥१४॥

शब्दार्थ—सम=शम भाव । निधाय=परित्याग करके । आर्ष महाकाव्यों में 'निधाय' का प्रयोग 'त्याग कर' और 'रखकर' दोनों ही अर्थों में हुआ है, पर लौकिक संस्कृत में 'त्यागना' अर्थ दुष्प्राप्य है ।

अनुवाद—(ऐश्वर्य आदि से) अलंकृत होने पर भी (जो) सभी प्राणियों के प्रति दण्ड का त्याग कर शम भाव से विचरण करता है (और) शान्त, दान्त जितेन्द्रिय, नियमित ब्रह्मचारी है वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, वही भिक्षु है ।

विशेष—यही गाथा यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ दिव्यादान में भी उपलब्ध है—

अलंकृतश्चापि चरेत धर्मं, दान्तेन्द्रियः शान्तः संयतो ब्रह्मचारी ।
सर्वेषु भूतेषु निधाय दंड स ब्राह्मणः स श्रमणः स भिक्षुः ॥२३।३

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पिलोतिक थेर]

१४३. हिरीनिसेधो पुरिसो कोचि लोकस्मि विज्जति ।
यो निन्दं अप्पबोधति, अस्सो भद्रो कसामिव ॥१५॥

शब्दार्थ—हिरीनिसेधो=लज्जा से अवरुद्ध अर्थात् सलज्ज । मैक्सम्यूलर ने Restrained by shame और भदन्त बुद्धघोष ने 'अत्तनो उत्पन्नं अकुसल-वितक्कं हिरिया निसेधेतीति हिरीनिधो' परन्तु श्री वंगीय ने हिरी निसेधो यस्स सो' ही अर्थ किया है । अप्पबोधति=नहीं सहन करता है (सं० अप्रबोधति, अल्पबोधति ?) ।

अनुवाद—संसार में ऐसा कौन सलज्ज व्यक्ति होगा जो निन्दा को उसी प्रकार सहन नहीं करता जैसे उत्तम घोड़ा कोड़े को ।

१४४. अस्सो यथा भद्रो कसानिविटठो, आतापिनो संवेगिनो भवाथ ।
सद्धाय सीलेन च वीरियेन च, समाधिना धम्मविनिच्छयेन च ।
सम्पन्नविज्जाचरण पतिस्सता, पहस्सथ दुक्खमिदं अनप्पकं ॥१६॥

शब्दार्थ—आतापिनो=पश्चाताप करने वाले । भवाथ=हो । सद्धाय=श्रद्धा से । धम्मविनिच्छयेन=धर्म के निश्चय से । सम्पन्नविज्जाचरण=विद्या और

आचरण ये समन्वित। पतिस्सता=स्मृतिवान् (सं० प्रतिस्मृताः)। पहस्सथ= पार करोगे (सं० प्रहास्यथ)।

अनुवाद—कोड़ा पड़े हुये उत्तम घोड़े के समान (तुम भी) पश्चाताप करने वाले एवं वेगवान् (उद्योगी) हो (बनो) श्रद्धा, शील, वीर्य, समाधि और धर्म के निश्चय से युक्त, विद्या और सदाचार से समन्वित (एवं) स्मृतिवान् (होकर ही) इस महान् दुःख को पार कर सकोगे।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सुख सामणेर]

१४५. उदकं हि नयन्ति नेत्तिका, उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका, अत्तानं दमयन्ति सुब्बता ॥१७॥

अनुवाद—(पानी) ले जाने वाले (इच्छानुसार) पानी ले जाते हैं, बाण बनाने वाले बेंत को यथेच्छ मोड़ते हैं, बढ़ई लकड़ी को मोड़ देते हैं, अच्छी प्रतिज्ञा (व्रत) वाले अपने का ही दमन करते हैं।

विशेष—यही गाथा 'सुब्बता' के स्थान पर 'पण्डिता' पाठ के साथ धम्मपद (८०) से 'पण्डितवग्ग' में उपलब्ध होती है।

---

११. जरावग्गो एकादसमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—विसाखाय सहायिका]

१४६. को नु हासो किमानन्दो, निच्चं पज्जलिते सति।
अन्धकारेन ओनद्धा, पदीप न गवेसथ ॥१॥

शब्दार्थ—पज्जलिते सति=जलते रहने पर। ओनद्धा=ढके हुये (सं० अवनद्धा) पदीप=दीपक।

अनुवाद—हमेशा जलते रहने पर क्या हँसी, क्या आनन्द ? अन्धकार से ढके (घिरे) हुये (तुम) दीपक (क्यों) नहीं ढूंढते ?

विशेष—'सभी प्राणी इस संसार में नित्य ही काल द्वारा पकाये जाते हैं, यह भाव महाभारत के निम्न श्लोक में भी प्राप्त होता है।

मासर्तु संज्ञापरिवर्तकेण सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
स्वकर्मनिष्ठाफलसाक्षिकेण भूतानी कालः पचति प्रसह्य ॥
(शा० पर्व० ३२१।९२)

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—सिरिमा]

१४७. पस्स चित्तकतं बिम्बं, अरुकाय समुस्सितं।
आतुरं बहुसंकप्पं यस्स नत्थि धुवं ठिति ॥२॥

शब्दार्थ—पस्स = देखो। चित्तकतं = सजाये हुये (वत्थाभरणमालालत्तकादीहि विचित्तं—बुद्धघोषः)। बिम्बं = शरीर। अरुकायं—अरु = घाव (सं० अरुस्) से युक्त शरीर को। समुस्सितं = फूला हुआ। बहुसंकप्पं = अनेक संकल्पों वाले। ठिति—स्थिति।

अनुवाद—(अनेक प्रकार के वस्त्रालंकारादि से) सजाये हुये (किन्तु) घावों से भरे हुये (मांस, वसा, मज्जा आदि से) फूले हुये, (अनेक दुःखों से) पीड़ित तथा अनेक संकल्पों वाले (इस) शरीर की (तो) देखो जिसकी स्थिति स्थायी नहीं है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—उत्तरी थेरी]

१४८. परिजिण्णमिदं रूपं, रोगनीलं[1] पभंगुरं।
झिज्जति पूतिसन्हो, मरणन्तं हि जीवितं ॥३॥

शब्दार्थ—परिजिण्णं = जीर्ण-शीर्ण। रोगनीलं = रोगों का घर। पभङ्गुरं = क्षण-भंगुर। भिज्जति = नष्ट हो जाता है। पूतिसन्देहो = पूति (दुर्गन्ध) + सन् + देहो (शरीर)—दुर्गन्ध वाला शरीर, अथवा पूतिः (पवित्रता) में सन्देह अर्थात् जिसकी पवित्रता में सन्देह है।

अनुवाद—यह रूप जीर्ण शीर्ण होने वाला, रोगों का घर एवं क्षणभंगुर है। दुर्गन्ध से भरा हुआ शरीर नष्ट हो जाता है, क्योंकि जीवन (तो) मरने तक (ही) होता है।

विशेष—कोई भी प्राणी मरने तक ही जीवित कहा जाता है, अन्त में सभी का मरण आवश्यक है—"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः।' महाभारत के इस श्लोक से तुलना कीजिये जिसका अन्तिम पद गाथा के अन्तिम पद के ही सदृश है।

सर्वे क्षयान्ता निचियाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्त हि जीवितम्। स्त्रीपर्व, २।३

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अधिमान भिक्खु।

---

१. सिं०—रोगनिड्डं।

१४९. यानिमानि अपत्थानि[1] अलावूनेव[2] सारदे।
कापोतकानि अट्ठीनि, तानि दिस्वान का रति ॥४॥

शब्दार्थ — अपत्थानि = गुणहीन। मैक्सम्यूलर तथा अधिकांश हिन्दी अनुवादकों ने भी 'फेंक दी गयी' (thrown away) अर्थ किया है। श्री वंगीय ने बुद्धघोष की टीका (तत्थ अपत्थानीति छड्डितानि) का हवाला देते हुये, दिव्यावदान में प्राप्त इसी भाव के श्लोक को आधार बनाकर 'अपत्थानि' पद को संस्कृत के 'अपांस्तानि' का पालिरूप मान बहुप्रचलित अर्थ को ही पुष्ट किया है। ए० के० नारायण ने 'अपथ्यानि' अर्थ किया है। किन्तु हमें Dr. P.L. Vaidya द्वारा किया गया अर्थ 'अपार्थानि' (Worthless) अधिक उपयुक्त जँचता है। अलावूनेव—लौकी की भाँति। सारदे = शरद् ऋतु में। अट्ठीनि = अस्थियों को। दिस्वान = देखकर।

अनुवाद - शरत्कालीन गुणहीन लौकी के समान कबूतर के रंग वाली इन अस्थियों को देखकर उनमें प्रेम कैसा ?

विशेष—दिव्यावदान में यही भाव दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया गया है—
यानीमान्यपविद्धानि विक्षिप्तानि दिशो दिशः।
कपोतवर्णान्यस्थीनि तानि दृष्ट्वेह का रतिः ॥३७।३३

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—रूपनन्दा थेरी]

१५०. अट्ठीनं नगरं कतं, मंसलोहितलेपनं।
यत्थ जरा च मच्चु च, मानो मक्खो च ओहितो ॥५॥

शब्दार्थ—अट्ठीनं = अस्थियों का। मानो = अभिमान। मक्खो = पाखण्ड (सं० म्रक्षः)। ओहितो = छिपा है (सं० अवहितः)।

अनुवाद—(यह शरीर) अस्थियों का एक नगर बनाया गया है जिस पर मांस और रक्त का लेप है तथा जिसमें बुढापा, मौत, अभिमान और पाखण्ड छिपे हुये हैं।

विशेष—अनेक दूषित पदार्थों से परिपूर्ण शरीर की निन्दा भगवान् मनु ने इन शब्दों में की है—

---

१. अ०—अपत्तानि। २. सिं०—अलापूनेव।

अस्थिस्थूणं स्नायुयुक्तं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्ध दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥
जराशोकसमाविष्ट रोगायतनमातुरम् ।
राजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ।.६।७६.७७

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—मल्लिका देवी]

१५१. जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता, अथो सरीरं पि जरं उपेति ।
सतं च धम्मो न जरं उपेति, सन्तो हवे सब्भि पवेदयन्ति ॥६॥

शब्दार्थ—जीरन्ति = जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं । सतं = सज्जनों का । सब्भि = सत्पुरुषों से । पवेदयन्ति = बताते हैं ।

अनुवाद—राजा के सुचित्रित रथ जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं तथा (यह) शरीर भी जरावस्था को प्राप्त हो जाता है । किन्तु सन्तों का धर्म (कभी) बूढ़ा नहीं होता, सज्जन पुरुष सज्जनों से ऐसा ही कहते हैं ।

विशेष—धर्म न कभी बूढ़ा होता है और न कभी वह नष्ट ही होता है मृत्यु के बाद भी वह मनुष्य का साथ नहीं छोड़ता । आर्ष वाक्य है—

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—(लाल) उदायी थेर]

१५२. अप्पस्सुतायं पुरिसो, बलिबद्दो व जीरति ।
मंसानि तस्स वड्ढन्ति पञ्ञा तस्स न वड्ढति ॥७॥

शब्दार्थ—अप्पस्सुताय = यह अल्पज्ञ (सं० अल्पश्रुतोऽयं) । बलिवद्दो = बैल

अनुवाद—यह अल्पज्ञ मनुष्य बैल की तरह बूढ़ा हो जाता है । उसके मांस आदि (तो) बढ़ते हैं किन्तु उसकी बुद्धि नहीं बढ़ती ।

[स्थान—बोधिरुक्खमूल, व्यक्ति—उदानवसेन वुत्त (पुन आनन्दत्थेरस्सवुत्तं[1])]

१५३. अनेक जातिसंसारं, सन्धाविस्सं अनिब्बिसं ।
गहकारं[2] गवेसन्तो, दुक्खा जाति पुनप्पुनं ॥८॥

---

१. ए० के० नारायण द्वारा सम्पादित संस्करण में स्थान-व्यक्ति का निर्देश नहीं है ।

२. सि०—गहकारकं ।

शब्दार्थ—संधाविस्सं=दौड़ता रहा। मैक्सम्यूलर ने भविष्यत् काल मानकर I shall have to run अर्थ किया है। बुद्धघोष ने लङ् का रूप माना है। अनिबिसं=बिना ज्ञान प्राप्त किये (ञाणं अलभन्तो—बुद्धघोष) ए० के० नारायण ने इसकी संस्कृत छाया 'अनिविशमानः देकर लगातार और श्री कनछेदी लाल गुप्त ने अनिर्विशमानः' (जाता हुआ) अर्थ किया है।

अनुवाद—(शरीर रूपी) घर के बनाने वाले की खोज करता हुआ, बिना ज्ञान प्राप्त किये अनेक जन्मों तक (में) संसार में दौड़ता रहा। बार-बार का जन्म दुःखमय हुआ।

१५४. गहकारक दिट्ठोसि, पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा, गहकूटं विसंखतं।
विसंखारगतं चित्तं, तण्हानं खयमज्झगा ॥९॥

शब्दार्थ—काहसि=करोगे। फासुका=कड़ियाँ। विसंखतं=टूट गया है (सं० विसंस्कृतम्)। तण्हानं=तृष्णाओं का। खयमज्झगा=क्षय हो गया है। गहकूटं=घर का शिखर अर्थात् बारह निदानों की कोटि अविद्या।

अनुवाद—हे घर बनाने वाले (अर्थात् तृष्णा) मैंने तुम्हें देख लिया, तुम अब घर न बना पाओगे। तुम्हारी सब कड़ियाँ (बारहों निदान) टूट गयी हैं, घर का शिखर (अविद्या) ढह गया है, चित्त संस्कार से रहित हो गया, तृष्णाओं का विनाश हो गया।

विशेष—उपर्युक्त गाथा में सांख्य का यह सिद्धान्त कि जब विवेक-बुद्धि प्राप्त होने के बाद पुरुष प्रकृत को देख लेता है तब प्रकृति भी उस पुरुष के प्रति प्रवृत्त नहीं होती, उसी प्रकार जैसे कि असूर्यम्पश्या स्त्री पतिव्यतिरिक्त व्यक्ति के द्वारा देख लिये जाने पर भविष्य में इस घटना की पुनरावृत्ति न होने देने के प्रति सजग रहती है, और पुरुष भी सुन्दरी के दर्शन की लालसा से पृथक् हो जाता है, तब मोक्ष होता है, प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया गया है। सांख्यकारिका की कारिका हैं—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीती मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्नदर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥

टिप्पणी—उपर्युक्त दोनों गाथायें स्थविरवादी बौद्ध परम्परा में बुद्धत्व-

प्राप्ति के बाद भगवान् बुद्ध के 'प्रथम वचन' के रूप में मानी जाती हैं। S: Edwin Arnold ने इन गाथाओं को अंग्रेजी में कितने सुन्दर ढंग से अभिव्य किया है—

Many a house of life
Hath held me seeking even him who wrought
These Prisons of the senses, sorrow frought :
Sore was my ceaseless strife,
But now
Thou Builder of this tabernacle—Thou !
I know Thee ! never shall Thou build again,
These walls of Pain,
Nor raise the roof-tree of deceits, nor lay
Fresh rafters on the clay,
Broken Thy house is, and the ridge-polee split !
Delusion fashioned it !
Safe pass I them-deliverance to obtain.

(डा० पी० एल० वैद्य के संस्करण से साभार उद्धृत)

[स्थान—इसिपतन (वाराणसी), व्यक्ति—महाधनी सेट्ठिपुत्त]

१५५. अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा योब्बने धनं ।
जिण्णकोञ्चा, व झायन्ति खीणमच्छे' व पल्लले ॥१०॥

शब्दार्थ—अलद्धा = प्राप्त न करके । योब्बने = युवावस्था में । जि कोञ्चा' व = वृद्ध क्रौञ्च की तरह । झायन्ति = चिन्ता करते हैं। पल्लले तालाब में।

अनुवाद—ब्रह्मचर्य का आचरण न कर (और) युवावस्था में धन न प्र कर (मनुष्य वृद्धावस्था में) उसी प्रकार चिन्ता करते हैं जैसे मछली रहित ता में बूढ़ा क्रौञ्च ।

१५६. अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा योब्बने धनं ।
सेन्ति चापातिखीणा' व, पुराणानि अनुत्थुनं ॥११॥

शब्दार्थ—सेन्ति = पड़े रहते हैं। अनुत्थुनं = सोचते हुये (सं० अनुष्टु यहाँ एकवचन का प्रयोग व्याकरण सम्मत नहीं है ।

अनुवाद—ब्रह्मचर्य का आचरण न कर (और) युवावस्था में धन प्राप्त न कर (वृद्धावस्था में) मनुष्य अत्यन्त कमजोर धनुष के समान पुरानी बातों को सोचते हुये पड़े रहते हैं।

---

१२. अत्तवग्गो द्वादसमो

[स्थान—सुंसुमारगिरि (भेसकलावन), व्यक्ति—बोधिराजकुमार]

१५७. अत्तानं चे पियं जञ्ञा, रक्खेय्य नं सुरक्खितं।
तिण्णमञ्ञतरं यामं, पटिजग्गेय्य पण्डितो ॥१॥

शब्दार्थ=जञ्ञा=समझे (सं० जानीयात्)। रक्खेय्य नं=इसे रखे। तिण्णं=तीन में से। यामं=रात्रि या दिन का तीन घण्टे का समय। बुद्धघोष ने तीन याम का अर्थ जीवन की तीन अवस्थाओं—प्रथम, मध्यम, और पश्चिम किया है। पटिजग्गेय्य=जाग्रत रहे।

अनुवाद—यदि आत्मा को प्रिय समझे (तो) इसे सुरक्षित (संयत) रखे। विद्वान् मनुष्य (जीवन के) तीन यामों (अवस्थाओं) में से एक में (अवश्य) जाग्रत रहे।

[स्थान—जेतवन—व्यक्ति—सक्कपुत्त उपनन्द थेर]

१५८. अत्तानमेव पठमं, पतिरूपे निवेसये।
अथञ्ञमनुसासेय्य, न किलिस्सेय्य पण्डितो ॥२॥

शब्दार्थ—पतिरूपे=सन्मार्ग में (अनु॰ छवि के गुणे पटिट्ठपेय्य—बुद्धघोष)। अनुसासेय्य=अनुशासित करे अर्थात् उपदेश दे (सं० अनुशिष्यात्)। किलिस्सेय्य=क्लेश को प्राप्त हो।

अनुवाद—पहले अपने को ही सन्मार्ग में लगावे, बाद में दूसरे को उपदेश दे। (इस प्रकार कार्य करने वाला) क्लेश को प्राप्त नहीं होता।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पधानिक तिस्स थेर]

१५९. अत्तान चे तथा करिया, यथञ्ञमनुसाति।
सुदन्तो वत दमेथ, अत्ता हि किर दुद्दमो ॥३॥

शब्दार्थ—वत=वास्तव में (सं० बत)। दमेथ=दमन करे। किर=निश्चय ही। दुद्दमो=दुर्दमनीय।

अनुवाद—यदि (मनुष्य) अपने को वैसा ही बना ले जैसा कि दूसरे को उपदेश देता है (तो भी) वह सुसंयमी वास्तव में (अपने का ही) दमन करे, क्योंकि अपना दमन करना निश्चय ही कठिन है।

विशेष—मैक्सम्यूलर तथा उनका अनुसरण करते हुए डा० पी० एल० वैद्य ने गाथा के तृतीय पाद का अनुवाद being himself well subdued, he many subdus (others) किया है, जो भ्रामक है। गाथा का अन्तिम पद अपनी ही आत्मा के दमन को 'कठिन' बता रहा है तो उससे पूर्व का पद भी निश्चय ही स्वात्मा के दमन परक भाव से सम्बद्ध होना चाहिये। श्री ए० के० नारायण ने अपने हिन्दी अनुवाद में ऐसा ही किया है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—कुमारकस्सपमातु थेरी]

१६०. अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
अत्तना हि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं ॥४॥

अनुवाद—(मनुष्य) अपना स्वामी आप है, (इसका) स्वामी दूसरा कौन होगा? भली-भाँति दमन किया गया (वह) स्वयं दुर्लभ स्वामित्व का लाभ करता है।

विशेष—वशीकृत आत्मा ही अपना स्वामी है, बन्धु है; अतः आत्मा के द्वारा आत्मा का दमन करने से ही निःश्रेयस् की प्राप्ति सम्भव है। गीता में कृष्ण ने कहा है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६।५—६

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—महाकाल उपासक]

१६१. अत्तना हि[1] कतं पातं, अत्तजं अत्तसम्भवं।
अभिमन्थति[2] दुम्मेधं, वजिरं वस्मयं[3] मणिं ॥५॥

---

१. सि०—व। २. ब्र.—अभिमत्थति।
२. स्या०—वजिरम्हयं, पू०—वम्हमयं।

शब्दार्थ—अत्तना व=अपने द्वारा ही। अत्तसम्भवं=अपने द्वारा पोषित। अभिमन्थति=मथ डालता है। वजिरं=हीरा। सेमुयेल बोल ने चीनी संस्करण के आधार पर steel drill अर्थ किया है। वस्ममयं=इव+अस्ममयं=पत्थर से उत्पन्न (विकारार्थे मयट्)।

अनुवाद—अपने ही द्वारा किया गया, अपने ही से उत्पन्न (और) अपने से ही पोषित पाप दुर्बुद्धि को मथ डालता है; जैसे पत्थर से उत्पन्न हीरा (पत्थर-की) मणि को छेद देता है।

[स्थान—वेणुवन (जेतवन), व्यक्ति—देवदत्त]

१६२. यस्स अच्चन्तदुस्सील्यं, मालुवा सालमिवोततं[1]।
करोति सो तथत्तानं, यथा नं इच्छती दिसो ॥६॥

शब्दार्थ—अच्चन्तदुस्सील्यं=अत्यन्त दुराचार। मालुवासालमिवोततं= मालुवा लता से वेष्टित शाल वृक्ष की भाँति फैला हुआ। मालुवा एक प्रकार की लता होती है जिसके कटोरे जैसे पत्तों में वर्षा का पानी भर जाने पर बड़े-बड़े वृक्ष भी गिर जाते हैं। तथत्तानं=अपने को वैसा ही। नं=एनम्। दिसो= शत्रु।

अनुवाद—जिसका घोर दुराचार मालुवा लता से वेष्टित शाल वृक्ष की भाँति फैला हुआ है वह अपने को वैसा ही कर लेता है जैसा कि उसका शत्रु इसे चाहता है।

[स्थान—राजगह (वेणुवन) व्यक्ति—भगवान् बुद्ध[2]]

१६३. सुकरानि असाधूनि, अत्तनो अहितानि च।
यं वे हितं च साधुं च, तं वे परमदुक्करं ॥७॥

अनवाद—बुरे और अपना अहित करने वाले कार्यों का करना बड़ा आसान है। जो कार्य हितकारी और अच्छा है उसका करना अत्यन्त कठिन है।

विशेष—उदानपालि के संघभेदसुत्त में देवदत्त और आनन्द में कलह के

---

१. ब्र०—सालमिवोत्थतं।

२. संघ में फूट पड़ने के समय आनन्द के प्रति भगवान् बुद्ध ने इस गाथा को कहा था।

अवसर आनन्द के प्रति भगवान् बुद्ध के वचन के रूप में निम्नलिखित गाथा को उद्धृत किया गया है—

सुकरं साधुना साधुं, साधुं पापेन दुक्करं ।
पापं पापेन सुकरं, पापमरियेहि दुक्करं ॥

धम्मपदट्ठ-कथा के ब्रह्मदेशीय संस्करण में इस गाथा को धम्मपद की मूल मान लिया गया है ।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—काल थेर]

१६४. यो सासनं अरहतं, अरियानं धम्मजीविनं ।
पटिक्कोसति दुम्मेधो, दिट्ठिं निस्साय पापिकं ।
फलानि कट्ठकस्सेव, अत्तघाताय[1] फल्लति ॥८॥

शब्दार्थ—पटिक्कोसति=निन्दा करता है (सं० प्रतिक्रोशति)। दिट्ठि—दृष्टि। निस्साय=आश्रय लेकर (सं० निःश्रित्य)। फलानि कटठकस्सेव=बाँस के फलों की भाँति। संस्कृत में 'काष्ठक' मुसब्बर या बोल (Aloe) के पौधे को कहते हैं, पर टीकाकार बुद्धघोष ने वेलुसंखातस्स कट्ठकस्स लिखकर अपनी पुष्टि के लिये चुल्लवग्ग की निम्न गाथा को उद्धृत किया है जिसमें केला, बाँस और बेंत के फलने पर उसका समूल नष्ट होना बताया गया है—

फलं वे कदलिं हन्ति फलं वेलुं फलं नलं ।
सक्कारो कापुरिसं हन्ति गब्भो अस्सतरिं तथा ॥ ७–२–५

अनुवाद—जो दुर्बुद्धि (मनुष्य) पापमयी दृष्टि का आश्रय लेकर धर्मजीवी श्रेष्ठ अर्हतों के शासन की निन्दा करता है (उसका यह कुकर्म) बांस के फलों की भाँति अपनी ही हत्या के लिये फलता है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—चूलकाल उपासक]

१६५. अत्तना हि[2] कतं पापं अत्तना संकिलिस्सति ।
अत्तना अकतं पापं, अत्तना व विसुज्झति ।
सुद्धि असुद्धि पच्चत्तं नाञ्ञो[3] अञ्ञं विसोधये ॥९॥

---

१. सिं०—अत्तघञ्ञाय ।
२. सिं०—व । ३. सिं०—नाञ्ञमञ्ञा ।

शब्दार्थ—संकिलिस्सति=क्लेश देता है। विसुज्झति=शुद्ध करता है। पच्चत्तं=प्रत्येक मनुष्य (सं० प्रत्यात्मम्)।

अनुवाद—अपने द्वारा किया गया पाप अपने को ही क्लेश देता है। अपने द्वारा न किया गया पाप अपने को ही शुद्ध करता है। (अतः) शुद्धि और अशुद्धि प्रत्येक मनुष्य पर निर्भर है। कोई (किसी) दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अत्तदत्थ थेर]

१६६. अत्तदत्थं परत्थेन, बहुना पि न हापये।
अत्तदत्थमभिञ्ञाय, सदत्थपसुतो सिया॥१०॥

शब्दार्थ—अत्तदत्थं=अपने लिए। हापये=त्यागना चाहिये। सदत्थपसुतो=सदर्थ (कल्याण) के साधन में संलग्न (सं० सदर्थप्रसितः)।

अनुवाद—दूसरे के बहुत हित के लिये भी अपने हित का त्याग नहीं करना चाहिये। अपने हित को भली-भांति समझकर सुहित (कल्याण) के साधन में संलग्न हो जाय।

विशेष—अपनी और अपने हितों की रक्षा करने में धन, स्त्री, पुत्र सभी कुछ अर्पण कर देना पड़े तो भी कोई बात नहीं है—

आपदार्थे धनं दारान् रक्षेद् धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि॥
(विदुर नीति ५।१८)

---

१३. लोकवग्गो तेरसमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतर दहर[1] भिक्खु]

१६७. हीनं धम्मं न सेवेय्य, पमादेन न संवसे।
मिच्छादिट्ठिं न सेवेय्य, न सिया लोकवड्ढनो॥१॥

शब्दार्थ—हीनं धम्मं=नीच धर्म बुद्धघोष ने 'पञ्चकामगुण' किया है। पञ्चकामगुण हैं—चक्खुविञ्ञेय्या रूपा, सोतविञ्ञेय्या सद्दा, घानविञ्ञेय्या

---

१. दहर=अल्पवयस्कः।

गन्धा, जिह्वाविञ्ञेय्या रसा, कायविञ्ञेय्या फोट्ठब्बा (दीर्घनिकाय: तृती भाग)। संवसे = रहे। लोकवड्ढनो = संसार अर्थात् आवागमन को बढ़ा वाला।

अनुवाद— नीच धर्म का सेवन न करे, प्रमोद के साथ न रहे। मिथ्या दृ का सेवन न करे, (संसार में) आवागमन को बढ़ाने वाला न बने।

[स्थान —निग्गोधाराम (कपिलवत्थु), व्यक्ति—सुद्धोदन]

१६८. उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य धम्म सुचरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति, अस्मि लोके परम्हि च ॥२॥

शब्दार्थ—उत्तिट्ठे = उठ पड़े। फजबोल ने Surgat तथा मैक्सम्यूलर Rouse thyself अर्थ किया है। लेकिन बुद्धघोष ने 'घर-घर से भिक्षा मां (उत्तिट्ठे ति उत्तिट्ठ परेस घरद्वारे ठत्वा गहेतब्ब पिण्डे) अर्थ किया है। ऐ प्रतीत होता है कि बौद्धधर्म में प्रारम्भ से ही 'उत्तिष्ठ क्रियापद का व्यवह घर-घर से भिक्षा करने के लिये उठ खड़े हों' के विशिष्ट अर्थ में होने लगा। जैसा कि अन्य दर्शन परम्पराओं में भी उत्तिष्ठ, जाग्रत आदि शब्दों का प्रयो साधारण उठ पड़ने और नींद त्याग देने के अर्थ में न होकर विशिष्ट आध्यात्मि अर्थ में होता है। नप्पमज्जेय्य = (न + प्रमाधेत्) प्रमाद न करे।

अनुवाद— (भिक्षु बनने के लिये) उठ पड़े, प्रमाद न करे, सदाचार यु धर्म का आचरण न करे। धर्म का आचरण करने वाला इस लोक में त परलोक में चैन से सोता है।

१६९. धम्मं चरे सुचरितं, न नं, दुच्चरित चरे।
धम्मचारी सुखं सेति, अस्सि लोके परम्हि च ॥३॥

अनुवाद—सदाचार युक्त धर्म का आचरण करे, दुराचार युक्त धर्म क आचरण न करे। धर्म का आचरण करने वाला इस लोक में तथा परलोक चैन से सोता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्चसत विपस्सक भिक्खु]

१७०. यथा बुब्बुलकं पस्से, यथा पस्से मरीचिकं।
एवं लोकं अवेक्खन्तं, मच्चुराजा न पस्सति ॥

अनुवाद—जिस प्रकार (मनुष्य) बुलबुले को देखता है तथा (मृग) रेगिस्तान में जल को देखता है, उसी प्रकार संसार को देखने वाले (व्यक्ति) को मृत्युराज (यम, मृत्यु या मार) नहीं देखता।

विशेष—सुत्तनिपात की निम्न गाथा से तुलना कीजिये—

सुञ्ञतो लोकं अवेक्खस्सु मोघराज सदा सतो।
अत्तानुदिट्ठिं अहच्च एव मच्चुतरो सिया।
एवं लोकं अवेक्खन्तं मच्चुराजा न पस्सति ॥ ५।१६।४

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—अभय राजकुमार]

१७१. एथ पस्सथिम लोकं, चित्तं राजरथूपमं।
यत्थ बाला विसादन्ति, नत्थि संगो विजानत ॥५।

शब्दार्थ—एथ = आओ (स० एत)। पस्सथिम = पश्यत + इमं। संगो = आसक्ति। विजानत = विज्ञों की।

अनुवाद—आओ, राजरथ के समान विचित्र इस संसार को देखो जिसमें मूर्ख दुःखी होते हैं और विज्ञों की आसक्ति नहीं होती।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सम्मुञ्जानि थेर]

१७२. यो च पुब्बे पमज्जित्वा, पच्छा सो नप्पमज्जति।
सो इमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तो व चन्दिमा ॥६॥

शब्दार्थ—पुब्बे = पहले। पमज्जित्वा = प्रमाद करके (सं० प्रमाद्य)। पच्छा = पश्चात्। पभासेति = प्रकाशित करता है। अब्भा = बादल से। मुत्तो = मुक्त। चन्दिमा = चन्द्रमा।

अनुवाद—और जो पहले प्रमाद करके (भी) बाद में प्रमाद नहीं करता। वह श्लोक को वैसे ही प्रकाशित करता है जैसे कि बादलों से निकला हुआ चन्द्रमा।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अंगुलिमाल थेर]

१७३. यस्स पापं कतं कम्मं, कुसलेन पिधीयति[1]।
सो इमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तो' व चन्दिमा ॥७॥

---

१. सिं—पिथीयति।

शब्दार्थ—कुशलेन=पुण्य कर्म से। पिधीयति=ढक जाता है।

अनुवाद—जिसका किया हुआ पाप कर्म पुण्य कर्म से ढक जाता है, वह इस लोक को वैसे ही प्रकाशित करता है जैसे कि बादलों से निकला हुआ चन्द्रमा।

[स्थान—अग्गालव चेतिय, व्यक्ति—पेसकारधीता[1]]

१७४. अन्धभूतो अयं लोको, तनु केत्थ विपस्सति।
सकुणो जालमुत्तो' व, अप्पो सग्गाय गच्छति ॥८॥

शब्दार्थ—तनुकेत्थ=(तनुको+एत्थ) यहाँ, अल्प। सकुणो=पक्षी। अप्पो=अल्प। सग्गाय=स्वर्ग के लिये।

अनुवाद—यह संसार अन्धा है। यहाँ बहुत थोड़े ही लोग देखते हैं। जाल से छूटे पक्षी की भाँति कोई विरला ही स्वर्ग को जाता है।

विशेष—यही भाव गीता में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥७।३

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—तिंस भिक्खु]

१७५. हंसादिच्चपथे यन्ति, आकासे यन्ति इद्धिया।
नीयन्ति धीरा लोकम्हा, जेत्वा मार सवाहिनिं[2] ॥९॥

शब्दार्थ—हंसादिच्चपक्षे=हंस (या योगी), आदिच्चपथे=आकाश में। यन्ति=जाते हैं। इद्धिया=ऋद्धि (ऐश्वर्य) प्राप्त। नीयन्ति=ले जाये जाते हैं। लोकम्हा=लोक से। सवाहिनिं=सेना सहित।

"the other people here sun up and down the shore"

अनुवाद—हंस आकाश में जाते हैं, ऋद्धिप्राप्त (भी) आकाश में गमन करते हैं। धैर्यशाली लोग सेना सहित मार को जीतकर इस संसार से लें जाये जाते हैं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—चिञ्चा माणविका]

१७६. एकं धम्मं अतीतस्स, मुसावादिस्स जन्तुनो।
वितिण्णपरलोकस्स, नत्थि पापं अकारियं ॥१०॥

---

१. रंगरेज की दुहिता। २. स्या० संवाहन।

शब्दार्थ—एकं धम्मं अतीतस्स=एक धर्म (मैक्समूलर—One law, डा० एस्० राधाकृष्णन्—बुद्धप्रवर्त्तित धर्म, बुद्धघोष—सच्चं) का अतिक्रमण करने वाले का। मुसावादिस्स=मृषावादी का। वितिण्ण परलोकस्स=परलोक के प्रति उदासीन का।

अनुवाद—एक धर्म (सत्य) का अतिक्रमण करने वाले, मृषावादी तथा परलोक के प्रति उदासीन प्राणी के लिये ऐसा कोई पाप नहीं है जो अकार्य हो।

विशेष—यह गाथा इतिवुत्तक के मुसावादसुत्त में भी उद्धृत हुई है।

[स्थान—जेतवन, असदिसदान (के सम्बन्ध में)]

१७७. न वे कदरिया देवलोकं वजन्ति,
बाला ह वे न प्पसंसन्ति दानं।
धीरो च दानं अनुमोदमानो,
तेनेव सो होति सुखी परत्थ ॥११॥

शब्दार्थ—वजन्ति=जाते हैं (सं० व्रजन्ति)। न प्पसंसन्ति=प्रशंसा नहीं करते। तेनेव=उसी से।

अनुवाद—कंजूस लोग देवलोक को नहीं जाते हैं। मूर्ख दान की प्रशंसा नहीं करते हैं। किन्तु दान का अनुमोदन करता हुआ धैर्यशाली (उसी से) परलोक में भी सुखी होता है।

विशेष—भारतीय संस्कृति में 'दान' की मुक्त कण्ठ से पशंसा की गयी है। ऋग्वेदीय 'दानसूक्त' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। दान न देने वाला स्वर्ग का अधिकारी नहीं है। ईसा मसीह ने भी जोरदार शब्दों में कहा था—

दान न देने वाले कंजूस के धन की क्या हालत होती है? इस श्लोक में देखिये—

जनयति हृदिखेदं मङ्गलं न प्रसूते, परिहरति यशांसि ग्लानिमाविष्करोति।
उपकृतिरहितानां सर्वभोगच्युतानां, कृपणकरगतानां सम्पदां दुर्विपाकः॥

[स्थान जेतवन, व्यक्ति—अनाथपिण्डिक पुत्तकाल]

१७८. पथव्या एकरज्जेन, सग्गस्स गमनेन वा।
सब्बलोकाधिपच्चेन सोतापत्तिफलं वरं ॥१२॥

अनुवाद—पृथ्वी के एकच्छत्र राज्य से, स्वर्ग में जाने से अथवा समस्त लोकों के आधिपत्य से (भी) श्रोतापत्तिफल श्रेष्ठ है।

विशेष—बुद्ध, धर्म, संघ तथा शील में विश्वास रखने वाले श्रोतापन्न श्रावक के सक्कायदिट्ठि, विचिकिच्छा और सीलब्बतपरामास—इन संयोजनों का क्षय हो जाता है। तब, उसे निर्वाण प्राप्ति तक केवल सात बार जन्म और लेना होता है। श्रोतापत्ति फल के चार अङ्ग—सप्पुरिस ससेव, सद्धम्मसवन, योनिसोमनसिकारो, धम्मानुधम्मपटिपत्ति माने गये हैं। इन चारों अङ्गों को प्राप्त कर लेने के बाद श्रोतापन्न श्रावक निश्चय ही तिरयादि समस्त दुःखों से मुक्त हो निर्वाण प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। इसीलिये चक्रवर्तित्व अथवा स्वर्ग प्राप्ति से भी श्रेष्ठ 'सोतापत्तिफल' बताया गया है। निर्वाण का प्रारम्भ श्रोतापत्ति मार्ग से होता है और अर्हत् फल में जाकर पूर्ण होता है।

---

१४. बुद्धवग्गो चुद्दसमो

स्थान—बोधिमंड. व्यक्ति—मारधीतरो[1]]

१७९. यस्स जितं नावजीयति, जित्तं यस्स[2] नोयाति कोचि लोके।
तं बुद्धमनन्तगोचर, अपद केन पदेन नेस्यथ ॥१॥

शब्दार्थ—नावजीयति=(न+अवजीयते) पराजित नहीं किया जाता (यस्स सम्मासंबुद्धस्स तेन तेन मग्गेन जितं रागादिकिलेसंजातं असमुदाचरणतो नावजीयति दुज्जितं नाम न होति)। कोचि=कोई (सं० कश्चित्)। नेस्सथ= ले जाओगे अर्थात् अस्थिर करोगे।

१८०. यस्स जालिनी विसत्तिका, तण्हा नत्थि कुहिञ्चि नेतवे।
त बुद्धमनन्तगोचरं, अपदं केन पदेन नेस्यथ ॥२॥

शब्दार्थ—जालिनी—बन्धन में डालने वाली, विसत्तिका=विषरूपी (सं० विषात्मिका)। कुहिञ्चि=कहीं भी (सं० कुत्रचित्)। नेतवे=नेतुम् (सं० नेतुम्)।

---

१. ए० के नारायण सम्पादित संस्करण में व्यक्ति "मागन्दिय" (ब्राह्मण) है। २. सि०—जितमस्स।

अनुवाद—जिसे बन्धन में डालने वाली, विषरूपी तृष्णा कहीं भी नहीं ले जा सकती, उस अनन्त गोचर एवं पद (स्थान) रहित (अर्थात् सार्वभौम) बुद्ध (ज्ञानी) को किस पद (उपाय) से अस्थिर करोगे ?

[स्थान—संकस्सनगरद्वार, व्यक्ति—बहुदेवमनुस्स]

१८१. ये झानपसुता धीरा, नेक्खम्मूपसमे रता।
देवापि तेसं पिहयन्ति, सम्बुद्धानं सतोमतं ॥२॥

शब्दार्थ—झानपसुता=ध्यान में रत (स० ध्यानप्रसृता:)। नेक्खम्मूपसमे =नेक्खम=प्रव्रज्या (स० नैष्क्रम्य)। उपसमे=परम शान्ति अर्थात् निर्वाण में। बुद्धघोष ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'नेक्खम्मूपसमे रता ति एत्थ पब्बज्जा नेक्खमन्ति न गहेतब्बा .किलेसवुपसमनिब्बानं'ति पन सन्धापेतं वुत्तं।"

अनुवाद—जो ध्यान में संलग्न हैं, धैर्यशाली हैं, प्रव्रज्या (भिक्षुत्व) के द्वारा परमशान्ति अर्थात् निर्वाण में रत हैं, उन स्मृतिवान् सम्बुद्धों की देवता भी स्पृहा करते हैं।

[स्थान—वाराणसी, व्यक्ति—एरकपत्तं नागराज]

१८२. किच्छो मनुस्सपटिलाभो, किच्छ मच्चान जीवितं।
किच्छं सद्धम्मस्सवनं, किच्छो बुद्धानमुप्पादो ॥४॥

शब्दार्थ—किच्छो=कठिन (सं० कृच्छ्:)। मनुस्सपटिलाभो=मनुष्य जन्म का लाभ। मच्चान=मनुष्यों का उप्पादो=उत्पत्ति।

अनुवाद—मनुष्य जन्म का लाभ कठिन है (जन्म लेकर भी) मनुष्यों का जीवन कठिन है, (जीवित रह कर भी) सद्धर्म का सुनना कठिन है, बुद्धो की उत्पत्ति कठिन है।

विशेष—निम्नोद्धृत सूक्ति से तुलना कीजिये—

मानुष्ये सति दुर्लभा पुरुषता पुंस्त्वे पुनर्विप्रता,
विप्रत्वे बहुविद्यताऽतिगुणता विद्यावतोऽर्थज्ञता।
अर्थज्ञस्य विचित्रवाक्यपटुता तत्रापि लोकज्ञता,
लोकज्ञस्य समस्तशास्त्रविदुषो धर्मे मतिः दुर्लभाः ॥

[स्थान—जेतवन; व्यक्ति—आनन्द थेर ।]

१८३. सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा[1] ।
सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धानं सासनं ॥५॥

शब्दार्थ—अकरणं=न करना । कुसलस्स उपसम्पदा=पुण्य कर्मों का व्रत ग्रहण करना (उपसम्पदा ति अभिनिक्खमनतो पट्ठाय याव अरहत्तमग्गा कुसलस्य उप्पादनञ्चेव उप्पादितस्स च भावना – बुद्धघोषः) । सचित्तपरियोदपनं=स (स्व) अपने, चित्त को परिशुद्ध करना (पञ्चहि नीवरणेहि अत्तनो वोदपनं–बुद्धघोष) ।

अनुवाद—सभी पापों का न करना, पुण्य कर्मों का व्रत ग्रहण करना (तथा) अपने चित्त को परिशुद्ध करना—यह बुद्धों की शिक्षा है ।

१८४. खन्ती परमं तपो तितिक्खा,
निब्बानं[2] परम वदन्ति बुद्धा ।
न हि पब्बजितो परूपघाती,
समणो होति परं विहेठयन्तो ॥६॥

शब्दार्थ—खन्ती=क्षमा (स० क्षान्तिः) । तितिक्खा=सहनशीलता । परूपघाती=दूसरों को हानि पहुंचाने वाला । विहेठयन्तो=घृणा करता हुआ । (स० विहेडयन्) ।

अनुवाद—क्षमा (और) सहनशीलता परम तप हैं । बुद्ध लोग निर्वाण को परम पद बताते हैं । दूसरों को हानि पहुंचाने वाला प्रव्रजित नहीं होता, दूसरों के प्रति घृणा करता हुआ (भी) श्रमण नहीं होता ।

विशेष—मैक्समूलर ने 'खन्ती' को 'परमं तपो' के साथ और 'तितिक्खा' को 'परमं निब्बानं' के साथ जोड़कर 'Patience the highest penance, long suffering the highest Nirvan' अनुवाद किया है । पर बौद्ध दर्शन में 'निर्वाण' साध्य और 'तितिक्षा' एक साधन है । अतः साध्य और साधन को एक बता देना नितान्त असंगत है । भदन्त बुद्धघोष ने इसे स्पष्ट किया है—

१. स्या०—कुसलस्सुपसम्पदा ।
२. पू०—निब्बाण ।

'खन्तीति या एसा तितिक्खासंखाता खन्ती नाम । इदं इमस्मिं सासने परमं उत्तमं तपो । निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा ति बुद्धा च पच्चेकबुद्धा च अनुबुद्धा चाति इमे तयो बुद्धा निब्बानं उत्तमन्ति वदन्ति ।"

१८५. अनूपवादो अनूपघातो[1], पातिमोक्खे च संवरो ।
मतञ्ञ ता च भत्तस्मि, पन्तं च सयनासनं ।
अधिचित्त च आयोगो, एतं बुद्धानं सासनं ॥७॥

शब्दार्थ—अनूपवादो = निन्दा न करना । पातिमोक्खे = प्रातिमोक्ष में मोक्षप्रद नियमों के बौद्ध संकलन को प्रातिमोक्ष कहा जाता है । संवरो = संयम । मत्तञ्ञुता = मात्रा (परिमाण) की जानकारी । भत्तस्मि = भोजन में । पन्तं = प्रान्त, विविक्त, एकान्त में । सयानासनं = शयन और आसन । अधिचित्ते च आयोगो = चित्त के सम्बन्ध में नियमन अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध ।

अनुवाद – निन्दा न करना, दूसरों को हानि न पहुँचाना, प्रातिमोक्ष के नियमों के अधीन संयम, भोजन में (सही) मात्रा की जानकारी, एकान्त में शयन और आसन तथा चित्तवृत्तियों का निरोध करना—यह बुद्धों की शिक्षा है ।

विशेष—संन्यासी को परनिन्दा तथा प्रशंसा से दूर एवं एकान्त में शयन तथा आसन रखना चाहिए, यह बात महाभारत में भी बतायी गयी है—

न चान्नदोषान्निन्देत, न गुणानभिपूजयेत् ।
शय्यासने विविक्ते च, नित्यमेवाभिपूजयेत् ।
(शा० पर्व, २७८।१२)

[स्थान —जेतवन, व्यक्ति—अनभिरत भिक्खु]

१८६. न कहापणवस्सेन, तित्ति कामेसु विज्जति ।
अप्पस्सादा दुखा कामा, इति विञ्ञाय पण्डितो ॥८॥
१८७. अपि दिब्बेसु कामेसु, रतिं सो नाधिगच्छति ।
तण्हक्खयरतो होति, सम्मासम्बुद्धसावको ॥९॥

शब्दार्थ—कहापणवस्सेन = कर्षापणों की वर्षा से । तित्ति = तृप्ति ।

---

१. स्या—अनुपवादो अनुपघातो । ए० के० नारायण भी इसी पाठ को मानते हैं ।

विज्जति=विद्यते (सं०) । अप्पस्सादा=थोड़े स्वाद वाली । दिब्बेसु=दिव्य या स्वर्गीय । तण्हक्खयरतो=तृष्णा के क्षय में रत । सम्मासम्बुद्धसावको=सम्यक् सम्बुद्ध (बुद्ध) का श्रावक (अनुयायी) । मैक्सम्यूलर ने the disciple who is fully awakened अर्थ किया है जो भदन्त बुद्धघोष द्वारा किये गये "सम्मासम्बुद्धेन देसितस्स धम्मस्स सवनेन जातो योगाचारभिक्खु" व्याख्यान से सर्वथा विपरीत है ।

अनुवाद—कार्षापणों की वर्षा से भी भोगों में तृप्ति नहीं होती । सभी 'भोग' थोड़े स्वाद वाले एवं दुःखद हैं—ऐसा समझकर विद्वज्जन स्वर्गीय भोगों में भी आसक्ति को प्राप्त नहीं होता, वह सम्यक् सम्बुद्ध (तथागत) का अनुयायी तृष्णा के क्षय में लगा रहता है ।

विशेष -'कामनायें कभी उपभोग से शान्त नहीं होती' भगवान् मनु का वचन है--"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।" प्रकृतगाथा की तुलना महाभारत के इस श्लोक से कीजिये—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥
(शा० पर्व, १७७।५१)

विशेष—'The two verses 186, 187 are ascribed to king Mandhatri, shortly before his death."

(मैक्सम्यूलर संस्करण की पादटिप्पणी)

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अग्गिदत्त ब्राह्मण]

१८८. बहुं वे सरणं यन्ति, पब्बतानि वनानि च ।
आरामरुक्खचेत्यानि, मनुस्सा भयतज्जिता ॥१०॥

शब्दार्थ—आराम=उपवन । रुक्ख=वृक्ष । भयतज्जिता=भयभीत ।

अनुवाद—भयभीत मनुष्य बहुत-सी शरणों में—पर्वतों, वनों उपवनों, वृक्षों और चैत्यों में जाते हैं ।

१८९. नेतं खो सरणं खेमं नेतं सरणमुत्तमं ।
नेतं सरणमागम्म, सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥११॥

शब्दार्थ—नेतं = न + एतद् । खेमं = कल्याण (सं० क्षेमं) । आगम्म = आकर । सब्बदुक्खा = सभी प्रकार के दुःख से । पमुच्चति = छूटता है

अनुवाद—यह शरण निश्चय ही कल्याणकारी नहीं है । यह शरण उत्तम नहीं है । इस शरण में आकर (कोई भी) सभी प्रकार के दुःख से नहीं छूटता ।

१९०. यो च बुद्धं च धम्मं च, संघं च सरणं गतो ।
चत्तारि अरियसच्चानि, सम्मप्पञ्ञाय पस्सति ॥१२॥

१९१. दुक्खं दुक्खसमुप्पाद दुक्खस्स च अतिक्कमं ।
अरियं चट्ठङ्गिकं मग्गं, दुक्खूपसमगामिनं ॥१३॥

शब्दार्थ—चत्तारि अरियसच्चानि = चार आर्य सत्यों को । चार आर्य सत्य हैं—१ दुक्ख (संसार दुःखमय है), २ (दुक्खसमुप्पादो (दुःख का मूल कारण तृष्णा है[1], ३. दुक्खनिरोधो (=दुःख की मूल कारण तृष्णा के निरोध से समस्त दुःखों का निरोध हो जाता है), अट्ठङ्गिकोमग्गो = यह चौथा आर्य सत्य है ।इसके आठ मार्ग हैं—१. सम्मादिट्ठी, सम्मासंकप्पो, ३. सम्मावाचा, ४. सम्माकम्मन्तो, ५. सम्माआजीवो ६. सम्मावायामो, ७. सम्मासति और ८. सम्मासमाधि । अधिक विषयोपभोग और अधिक कृच्छ्रसाधन—इन दोनों चरम कोटियों का निषेध करने से इस मार्ग को 'मज्झमा पटिपदा' भी कहा गया है । सम्मप्पञ्ञाय = सम्यक् बुद्धि स । दुक्खसमुप्पादं = दुःख की उत्पत्ति । अतिक्कमं = अतिक्रम अर्थात् विनाश । चट्ठगिक = च + अट्ठगिकं । मग्गं = मार्ग । दुक्खूपसमगामिन = दुःख के विनाश की ओर जाने वाला ।

अनुवाद—और जो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में गया है (वह मनुष्य) दुःख, दुः की उत्पत्ति, दुःख का विनाश और दुःख के विनाश (अर्थात् निर्वाण) की ओर ले जाने वाले श्रेष्ठ अष्टांगिक मार्ग—इन चार आर्य सत्यों को अपनी सम्यक् बुद्धि से देख लेता है ।

विशेष—बौद्ध धर्म में बुद्ध, धर्म और संघ को 'सरणत्तय' या 'रतनत्तय' कहा जाता है । खुद्दकपाठपालि के प्रारम्भ में ही लिखा है—

---

१. महाभारत में भी तृष्णा को सबसे बड़ी व्याधि बताया गया है—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥

(शान्तिपर्व; २७६।१२)

बुद्ध सरणं गच्छामि ।
धम्मं सरणं गच्छामि ।
सघ सरणं गच्छामि ॥
दुतियं पि बुद्धं सरणं गच्छामि ।
दुतियं पि धम्मं सरणं गच्छामि ।
दुतिय पि संघ सरणं गच्छामि ।
ततियं पि बुद्ध सरणं गच्छामि ।
ततियं पि धम्मं सरणं गच्छामि ।
ततियं पि संघ सरणं गच्छामि ॥
एतं खो सरण खेमं एतं सरणमुत्तमं ।

१९२. एतं खो सरणं खेमं, एतं सरणमुत्तमं ।
एतं सरणमागम्य, सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥१४॥

अनुवाद—यह शरण निश्चय ही कल्याणकारी है । यह उत्तम शरण है। इस शरण में आकर (मनुष्य) सभी प्रकार के दुःख से छूट जाता है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—आनन्द थेर]

१९३. दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो, न सो सब्बत्थ जायति ।
यत्थ सो, जायति धीरो, तं कुल सुखमेधति ॥१५॥

शब्दार्थ—पुरिसाजञ्ञो = पुनः जन्म लेने वाला पुरुष (पुरुष + अजन्यः)। अधिकांश विद्वानों ने 'पुरुष + अजानेयः' संस्कृत रूप माना है । संस्कृत 'अजानेयः' का अर्थ है—उच्चकुलोद्भव या निर्भीक ! अतः ऐसा अर्थ लेने पर गाथा के अन्तिम पद के साथ संगति न हो सकेगी । इसलिये हमारे विचार में 'पुनः जन्म न लेने के योग्य अर्थात् पूर्णरूप से प्रबुद्ध मनुष्य दुर्लभ है" ऐसा अर्थ करना ही उचित होगा । मैक्सम्यूलर ने भी 'A supernatural person (a Buddha) is not easily found' ही अर्थ किया है ।

अनुवाद—पुनः जन्म न लेने के योग्य (अर्थात् पूर्ण प्रबुद्ध) पुरुष दुर्लभ है, वह सब जगह पैदा नहीं होता । जिस कुल में वह धैर्यशाली पैदा होता है उसमें सुख की वृद्धि होती है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—संबहुल भिक्खु]

१९४. सुखो बुद्धानमुप्पादो सुखा सद्धम्मदेसना ।
सुखा संघस्स सामग्गी, समग्गानं तपो सुखो ॥१६॥

शब्दार्थ—सुखो=सुखदायी। सद्धम्मदेसना=सद्धर्म का उपदेश। सामग्गी=समग्रता अर्थात् एकता। समग्गानं=सभी का अर्थात् एकीभूत हुये व्यक्तियों का।

अनुवाद—बुद्धों का जन्म सुख देने वाला है, सद्धर्म का उपदेश सुखदायी है। संघ की एकता सुखदायी है, एकीभूत हुए व्यक्तियों को तप सुखदायी है।

विशेष—प्रस्तुत गाथा में 'एकता' पर बल दिया गया है। यह 'एकता' बौद्ध धर्म के संघ' के लिए अत्यावश्यक थी। किन्तु ऋग्वेद में जो यही भावना 'साम्यवाद' के रूप में जनसामान्य के कल्याण के लिये उदारचेता ऋषियों ने प्रवर्तित की थी, वही भगवान् बुद्ध के द्वारा भिक्खुवर्ग के लिये 'अनुशासन' के रूप में प्रचलित हुई। इस अनुशासन की कठोरता का आगे चलकर विरोध हुआ। लेकिन ऋग्वेद की निम्नलिखित भावना सार्वयुगीन और सार्वदेशिक है जिसकी उपयोगिता, नैतिकता और आवश्यकता कभी कम नहीं हो सकती, संस्कृति का प्राण समझी जाती है—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

(१।१९१।२, ३, ४)

[स्थान –कस्मपदसबलस्य[1] सुवर्णचेतियं, समय—चारिकं[2] चारमानो]

१९५. पूजारहे पूजयतो, बुद्धे यदि व सावके।
पपञ्चसमतिक्कन्ते तिण्णसोकपरिद्दवे ॥१७॥

१९६. ते तादिसे पूजयतो निब्बुते अकुतोभये।
न सक्का पुञ्ञं संखातुं इमेत्तमपि केनपि ॥१८॥

[पठमभाणवार[3]।

शब्दार्थ—पूजारहे=पूजा के योग्य अर्थात् पूज्यों को। (पालि में अकारान्त पुल्लिग शब्दों के रूप द्वितीया, बहुवचन तथा सप्तमी एकवचन में एक जैसे होते हैं, अतः यहाँ सप्तमी का भ्रम न होना चाहिये)। पपञ्चसमतिक्कन्ते= सांसारिक प्रपञ्चों से दूर हुओं को। तिण्णसोकपरिद्दवे=शोकनद। (मैक्स-म्यूलर—flood of sorrow) को पार करने वालों को। तादिसे=तादृशान् (सं०)। निब्बुते=निर्वृत्तों अर्थात् मुक्तों को। अकुतोभये=निर्भीकों को। संखातुं=गिनना। इमेत्तमपि=(इमं+एत्त+अपि) यह 'इतना है' (सं० इयन्मात्रम् अपि)।

अनुवाद—पूजा के योग्य व्यक्तियों, बुद्ध के अनुयाइयों, सांसारिक प्रपञ्चों से दूर हुओं, शोकानद को पार करने वालों, उपर्युक्त प्रकार से मुक्तों और निर्भीकों को पूजने वाले व्यक्ति का 'यह पुण्य इतना है' इस प्रकार किसी के द्वारा गिना भी नहीं जा सकता।

— — —

१५. सुखवग्गो पन्नरसमो

[स्थान—सक्कदेश,—व्यक्ति—जातक (कलहवुपसमनत्थं)]

१९७. ससुखं वत जीवाम, वेरिनेसु अवेरिनो।
वेरिनेसु मनुस्सेसु विहराम अवेरिनो ॥१॥

---

१. कश्यपदशबलस्य। दशबल' बुद्ध का विशेषण होने के कारण उन्हीं के लिये 'रूढ़' हो गया है।

२. बौद्ध सम्प्रदाय में 'चारिका' का अर्थ है–चहलकदमी अर्थात् पद-बिहार।

३. कोष्ठक वाला पाठ केवल नालन्दा संस्करण में प्राप्त है।

अहले मानुष्य प्रसादापन भास्कर।
निराहानंद उन्नत प्रकाश अमोकाना॥

शब्दार्थ—वत=वास्तव में। वेरिनेसु=वैरियों में। अवेरिनो—अशत्रुता अर्थात् मित्रता का व्यवहार करने वाले (हम)।

अनुवाद—शत्रुओं में अशत्रुता का व्यवहार करने वाले (हम) वास्तव में सुखपूर्वक जीते हैं। शत्रु-मनुष्यों में (हम) अशत्रु (मित्र) हो विहार करते हैं।

विशेष—शत्रुओं के मध्य शत्रु बनकर रहना अतीव कठिन है। इसीलिए यमकवग्ग में पहले ही कहा जा चुका है—

१९८. न हिवेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेग च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो।
सुसुखं वत जीवाम, आतुरेसु अनातुरा।
आतुरेसु मनुस्सेसु, विहराम अनातुरा ॥२॥

अनुवाद—(मान, ईर्ष्या आदि से) आतुर (व्याकुल) व्यक्तियों में अनातुर (उतावले या बदले की भावना से रहित) होकर (हम) वास्तव में सुखपूर्वक जीते हैं। आतुर मनुष्यों में (हम) अनातुर) (धीर) हो विहार करते हैं।

विशेष—मान, ईर्ष्या बदले की भावना आदि से ग्रस्त अतएव व्याकुल व्यक्तियों के शत्रु हमेशा बढ़ते हैं, उन्हें शान्ति कहाँ—

अक्कोच्छि मं अवधि म अजिनि में अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति वेरं तेस न सम्मति ॥ धम्मपद, ३.

महाभारत शान्ति पर्व में भी कहा गया है—

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दो प्रियाप्रियो।
भयाभयं च सन्त्यज्य सम्प्रशान्तो निरामयः ॥२७६।११

१९९. सुसुखं वत जीवाम उस्सुकेसु अनुस्सुका।३।
उस्सुकेसु मनुस्सेसु, विहराम अनुस्सुका।३।

शब्दार्थ—उस्सुक=लालायित अर्थात् लालची (मैक्समूलर–Greedy)।

अनुवाद—लालची व्यक्तियों में (हम) लालचरहित हो वास्तव में सुखपूर्वक जीते हैं। लालची मनुष्यों में (हम) लालचरहित होकर विहार करते हैं।

[स्थान—पञ्चशाला ब्राह्मण गाम—मगध) व्यक्ति—मार]

२००. सुसुखं वत जीवाम, येसं नो नत्थि किञ्चन ।
पीतिभक्खा भविस्साम, देवा आभस्सरा यथा ॥४॥

शब्दार्थ- -पीतिभक्खा = आनन्द है भोजन जिनका। आभस्सरा = आभास्वर। आप्टे ने संस्कृत कोष में 'आभास्वर' का पर्याय Demigod (गन्धर्व) दिया है किन्तु मैक्समूलर ने शाब्दिक अर्थ Bright gods ही दिया है। विभङ्गट्ठकथा में 'आभस्सर देव' के सम्बन्ध में बताया गया है कि उनके शरीर से ज्योति चारों ओर छिटकती है—'दण्ड-दीपिकाय अच्चि विय एतेसं सरीरतो आभा छिज्जित्वा छिज्जित्वा पतन्ती विय सरति विसरतीत आभस्सरा।" ये देव केवल 'पीति' (आनन्द) ही भक्षण कर प्राण धारण करते हैं।

अनुवाद—(हम लोग) जिनका कुछ नहीं है, वास्तव में सुखपूर्वक जीते हैं। (हम) आभास्वर देवों के समान आनन्दभोजी बनेंगे।

विशेष—महाभारत के शान्तिपर्व में विदेह जनक के निम्न शब्दों से तुलना कीजिये, मिथिला में आग लगी, पर जनक निश्चिन्त हैं—

सुसुखं बत जीवामि यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ।२७६।४

[स्थान—जेतवन विषयवस्तु—कोसलरञ्ञो पराजयो[1]]

२०१. जयं वेरं पसवति, दुक्खं सेति पराजितो।
उपसन्तो सुखं सेति, हित्वा जयपराजय ॥

शब्दार्थ—पसवति = उत्पन्न करती है। सेति = सोता है। उपसन्तो = पूर्णतया शान्त। हित्वा = त्याग कर।

अनुवाद—विजय शत्रुता को उत्पन्न करती है। पराजित हुआ (मनुष्य) दुःख (की नींद) सोता है। जय-पराजय को त्याग कर पूर्णतया शान्त (मनुष्य) सुख (की नींद) सोता है।

---

१. The vertse is ascribed to Buddha, when he heared of the defeat of अजातशत्रु by प्रसेनजित्"—मैक्समूलर।

विशेष—संयुक्त निकाय के प्रथम भाग में भी यह गाथा उद्धृत हुई है। अवदान शतक में इस गाथा का संस्कृत रूपान्तर उपलब्ध है—

ज्यो वैरं प्रसवति दुःखं शेते पराजितः।
उपशान्तः सुखं शेते हित्वा जयपराजयम्॥

(स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतरा कुलकञ्ञा[1])

२०२. नत्थि रागसमो अग्गि नत्थि दोससमो कलि।
नत्थि खन्धसमा[2] दुक्खा नत्थि सन्तिपरं सुखं॥६॥

शब्दार्थ—दोषसमो = द्वेष के समान। कलि = कलह या पाप। मेक्सम्यूलर ने 'कलि' का अर्थ द्यूतकर्म का भाग्यहीन पासा (Unlucky die). बुद्धघोष ने 'अपराध' और ए० के० नारायण ने 'मल' किया है। खन्धसमा = स्कन्ध अर्थात् संसार के समान। सन्तिपरं = शान्ति से बढ़कर।

अनुवाद—राग के समान अग्नि नहीं है, द्वेष के समान पाप नहीं है। संसार (या पुनर्जन्म) के समान दुःख नहीं है शान्ति से बढ़कर सुख नहीं है।

[स्थान—आलवी, व्यक्ति—एक उपासक]

२०३. जिघच्छा[3] परमा रोगा, सङ्खारा परमा दुखा।
एतं ञत्वा यथाभूतं निब्बानं परमं सुखं॥७॥

शब्दार्थ—जिघच्छा = इच्छा। यद्यपि इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—खाने की इच्छा, पर 'कामोपभोग की इच्छा' जैसे विस्तृत अर्थ को प्रकट करने के लिये हमने इसका अर्थ 'इच्छा' ही किया है। मैक्सम्यूलर ने ठीक ही लिखा है—"जिघच्छा or as it is written in one MS. जिघच्छा (सं० जिघत्सा), meams not only 'hunger', but appetites desire" संग्रह की प्रवृत्ति' जैसा अर्थ मूल से पर्याप्त भिन्न हो जाता है। संखारा = पुनर्जन्म (संस्कार)। यह पांच खन्धों में से चौथा स्कन्ध है, लेकिन बुद्धघोष ने इसका अर्थ पञ्च-

---

१. चौ० – कुलदारिका। २. सि०—खन्धादिसा।

३. जिघच्छापरमा। मैक्सम्यूलर भी लिखते हैं—I should prefer to read. जिघच्छा-परमा as compound.

स्कन्ध (संखारा ति पञ्च खन्धा) किया है। चाइल्डर्स के अनुसार organic life और मैक्सम्यूलर के अनुसार इसका अर्थ है Body.

अनुवाद—इच्छा सबसे बड़ा रोग है, पुनर्जन्म सबसे बड़ा दुःख है। इसे यथार्थ रूप में जानकर निर्वाण परम सुख है (ऐसा जानो)।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पसेनदि कोसलराज]

२०४. आरोग्य परमा लाभा सन्तुट्ठि परम धन।
विस्सास परमा ञाति निब्बानं परमं सुखं ॥८॥

अनुवाद—आरोग्य परम लाभ है, सन्तुष्टि परम धन है। विश्वास परम बन्धु है निर्वाण परम सुख है।

विशेष—गाथा के तृतीय पाद का अनुवाद मैक्सम्यूलर ने trust is the best of relationships और चाइल्डर्स ने the best kinsman is a man you can trust किया है।

[स्थान—वेसाली व्यक्ति—तिस्स थेर[1]]

२०५. पविवेकरसं पित्वा[2] रसं उपसमस्स च।
निद्दरो होति निप्पापो धम्मपीतिरसं पिवं ॥९॥

शब्दार्थ—निद्दरो=निडर। धम्मपीतिरसं=धर्म के आनन्द रूपी रस को। पिवं=पीता हुआ।

अनुवाद—प्रकृष्ट विवेक के रस को तथा शान्ति के रस को पीकर, धर्म के आनन्दरूपी रस को पीता हुआ (मनुष्य) निडर और निष्पाप हो जाता है।

विशेष—यही गाथा सुत्तनिपात के तीसरे सुत्त हिरिसुत्त की अन्तिम गाथा के रूप में उपलब्ध होती है।

[स्थान—वेणुगाम व्यक्ति सकक]

२०६. साधु[3] दस्सनमरियानं सन्निवासो सदा सुखो।
अदस्सनेन बालानं, निच्चमेव सुखी सिया ॥१०॥

---

१. चोखम्बा संस्करण में पात्र 'अञ्ञतर' भिक्खु है।

२. सि०—पीत्वा।

३. अ०—साहु।

अनुवाद—आर्यों का दर्शन शुभ है, सन्तों के साथ निवास हमेशा सुखदायक है। मूर्खों के न देखने से हमेशा सुखी रहे।

विशेष—सन्तों की सङ्गति सुखदायिनी होती है—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यम्,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
सन्तोषमाकलति दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्॥

मूर्ख एवं दुष्ट से दूर रहने की सलाह विष्णुशर्मा ने भी दी थे—

वरं गहनदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न दुष्टजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि॥

देखिये—गाथा ७८॥

२०७. बालसङ्गतचारी हि दीघमद्धान सोचति।
दुक्खो बालेहि संवासो अमित्तेनेव सब्बदा।
धीरो च सुखसंवासो,[1] जातीनं व समागमो॥११॥

शब्दार्थ—दीघमद्धान=मार्ग में बहुत दूर तक। बालेहि—मूर्खों के साथ। सब्बदा=सदैव।

अनुवाद—मूर्ख की सङ्गति में चलने वाला मार्ग में बहुत दूर तक निश्चय ही पश्चाताप करता है। मूर्खों के साथ निवास सर्वंव दुःखदायी होता है जैसे कि शत्रु के साथ निवास (दुःखदायी होता है) धैर्यशाली के साथ रहना, जाति वालों के समागम के समान सुखद होता है।

विशेष—तुलनीय, गाथा ६१, ६६।

तस्माहि—

२०८. धीरं च पञ्ञं च बहुस्सुतं च धोरय्हसीलं वतवन्तमारियं[2]।
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं, भजेथ नक्खत्तपथं, व चन्दिमा॥१२॥

---

1. I should like to read 'सुखो च धीर सवासो'—मैक्सम्यूलर।
2. ब्र० वतवन्तमरियं।

शब्दार्थ—पञ्ञं = प्राज्ञ। धोरय्हसील = शीलवान् (सं० धौरेयशीलम्)। वतवन्तं = व्रतवान्। नक्खत्तपथं = नक्षत्रपथ। इन सभी शब्दों में द्वितीया का प्रयोग भज् धातु के प्रयोग के कारण हुआ है।

अनुवाद—इसलिये—

(मनुष्य) धीर प्राज्ञ, विद्वान्, शीलवान्, व्रतवान्, श्रेष्ठ और मेधावी सत्पुरुष का अनुगमन उसी प्रकार करे जैसे कि चन्द्रमा नक्षत्रमार्ग का।

---

१६. पियवग्गो सोलसमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—तयो पब्बजिता]

२०९. आयोगे युञ्जमत्तानं योगस्मिं च अयोजयं।
अत्थं हित्वा पियग्गाही पिहेतत्तानुयोगिनं ॥१॥

शब्दार्थ—आयोगे = न करने योग्य कार्य में। (बुद्धघोष ने लिखा है—"तत्थ आयोगे ति अयुञ्जितब्बे अयोनिसोमनसिकारे वेसियागोचरादिभेदस्स हि छब्बिधस्स अगोचरस्स सेवनं इध अयोनिसोमनसिकारो नाम।" योगस्मिं = करणीय कार्य में। पियग्गाही = प्रिय (विषयों) का ग्राही। पिहेत = स्पृहा करे (सं० स्पृहयेत्)। अत्तानुयोगिनं = आत्मानुयोगी अर्थात् आत्मोन्नति में संलग्न who has exerted himself in meditation—मैक्सम्यूलर)।

अनुवाद—न करने योग्य कार्य में अपने को लगता हुआ करने योग्य कार्य में न लगता हुआ, अर्थ (परमार्थ) को छोड़कर प्रिय विषयों (पञ्चकामगुणों) को ग्रहण करने वाला (मनुष्य) आत्मोन्नति में संलग्न (व्यक्ति) की स्पृहा करे।

विशेष—'योग' का अर्थ 'विविध यौगिक आसनों' से नहीं है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है—'योगःकर्मसु कौशलम्।' 'कर्म की कुशलता' ही योग है, अतएव अर्जुन को भगवान् का उपदेश है—'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।"

'पंचकामगुणों में अनासक्ति' ही 'कर्मकुशलता' है जिसका दूसरा नाम 'योग' समझा जाता है। विविध यौगिक आसनों से साधक का भला नहीं हो सकता—देखिये, धम्मपदं गाथा ४८, १४१।

२१०. मा पियेहि समागञ्छि अप्पियेहि कुदाचनं ।
पियानं अदस्सनं दुक्खं अप्पियान च दस्सनं ॥२॥

शब्दार्थ—पियेहि = पञ्चकामगुणों के साथ । समागञ्छि = सम + आगच्छ ।

अनुवाद—प्रियों (पञ्चकामगुणों) के साथ न आओ, अप्रिय के साथ कभी मत आओ । प्रियों का अदर्शन और अप्रियों का दर्शन दुःखद होता है ।

विशेष—तुलना कीजिये—

पञ्चकामगुणे हित्वा पियरूपे मनोरमे ।
सद्धाय घरा निक्खम्म दुक्खस्सन्तकरो भव ॥

(सुत्तनिपात, २।११।११७)

२११. तस्मा पियं न कयिराथ, पियापायो हि पापको ।
गन्था तेसं न विज्जन्ति, येसं नत्थि पियाप्पियं ॥३॥

शब्दार्थ— पियापायो = प्रिय का वियोग (सं० प्रियापायो) । गन्था = बन्धन । प्रियाप्पिय = प्रिय तथा अप्रिय ।

अनुवाद—इसलिये प्रिय नहीं बनाना चाहिये । प्रिय का वियोग कष्टकारी होता है । जिनके प्रिय तथा अप्रिय नहीं होते उनके बन्धन नहीं हैं ।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—अञ्ञतर कुटुम्बिक]

२१२. पियतो जायती सोको, पियतो जायती भयं ।
पियतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ॥४॥

अनुवाद—प्रिय से शोक उत्पन्न होता है, प्रिय से भय उत्पन्न होता है । प्रिय से मुक्त व्यक्ति को शोक नहीं, भय कहाँ (से हो) ?

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—विसाखा उपासिका]

२१३. पेमतो जायती सोको, पेमतो जायती भयं ।
पेमतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं ॥५॥

अनुवाद—प्रेम से शोक उत्पन्न होता है, प्रेम से भय उत्पन्न होता है । प्रेम से मुक्त व्यक्ति को शोक नहीं है, भय कहाँ (से हो) ?

विशेष—तुलनीय—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति करी पतंग दीप सम अपनो ही प्राण दह्यौ ॥ सूरदास

[स्थान—कूटागारसाला (वेसाली) व्यक्ति—लिच्छिवि]

२१४. रतिया जायति सोको, रतिया जायती भयं।
रतिया विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं ॥६॥

अनुवाद—रति (राग) से शोक उत्पन्न होता है, रति से भय उत्पन्न होता है। रति-मुक्त व्यक्ति को शोक नहीं है, भय कहाँ (से हो) ?

विशेष—तुलनीय—

नत्थि रागसमो अग्गि……। धम्मपदं, २०२।

एवं—नास्ति रागसमं दुःखम्…। महाभारत, शा० प० १५७।३५

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अनित्थिगन्धकुमार]

२१५. कामतो जायति सोको, कामतो जायति भयं।
कामतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं ॥७॥

अनुवाद—काम (इच्छा) से शोक उत्पन्न होता है। काम से भय उत्पन्न होता है। काम से मुक्त व्यक्ति को शोक नहीं है, भय कहाँ (से हो) ?

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतर ब्राह्मण]

२१६. तण्हाय जायती सोको, तण्हाय जायती भयं।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं ॥८॥

अनुवाद—तृष्णा से शोक उत्पन्न होता है. तृष्णा से भय उत्पन्न होता है। तृष्णा से मुक्त व्यक्ति के लिये शोक नहीं है, भय कहाँ (से हो) ?

विशेष—तृष्णा सबसे बड़ा रोग है, उसे त्याग देने पर ही सुख सम्भव है—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥
(महाभारत, शा० प० २७६।१२)

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—पंचसत दारक]

२१७. सीलदस्सनसम्पन्नं, धम्मट्ठं, सच्चवादिनं[1]।
अत्तनो कम्म कुब्बानं, तं जनो कुरुते पियं ॥९॥

शब्दार्थ—सीलदस्सनसम्पन्नं = शील और दर्शन से सम्पन्न। दर्शन का तात्पर्य है किसी वस्तु को उसके वास्तविक रूप में सही-सही देखना अर्थात् सम्यक् दर्शन। बुद्धघोष लिखते हैं—'मग्गफलसम्पयुत्तेन सम्मादस्सनेन च सम्पन्नं।' धम्मट्ठं = धर्मिष्ठं (सं०)।

अनुवाद—जो शील और सम्यक् दर्शन से युक्त, धर्मिष्ठ, सत्यवादी (और) अपना कार्य करने वाला है, उसे लोग प्रिय बनाते हैं।

(स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अनागामि थेर[2])

२१८. छन्दजातो अनक्खाते, मनसा च फुटो सिया।
कामेसु[3] च अप्पटिबद्धचित्तो, उद्धंसोतोऽति वुच्चति ॥१०॥

शब्दार्थ—छन्दजातो = छन्दस्। इच्छा उत्पन्न हो गई है जिसकी अर्थात् अभिलाषी। अनक्खाते = अकथ्य अर्थात् निर्वाण में। फुटो = स्पष्ट अर्थात् निर्मल (सं० स्फुटः)। अप्पटिबद्धाचित्तो = अप्रतिबद्ध चित्त वाला। उद्धसोतो = उर्ध्व-जन्म लेकर 'अकनिट्ठ' देवलोक की ओर अग्रसर होने वाले बौद्ध भिक्खु को बौद्ध दर्शन में 'उद्धसोत' कहा जाता है—"एवं रूपो भिक्खु अविहेसु निब्बत्तित्वा ततो पट्ठाय पटिसन्धिवसेन अकनिट्ठ गच्छन्तो उद्धसोतो'ति वुच्चति।"

—बुद्धघोष।

अनुवाद—अकथ्य (निर्वाण) में उत्पन्न इच्छा वाला और मन से निर्मल और कामों में जिसका चित्त बंधा नहीं है वह ऊर्ध्वस्रोत कहा जाता है।

---

१. ना० सच्चवेदिनं।

२. ए० के० नारायण सम्पादित संस्करण में स्थान-पात्र का निर्देश नहीं है।

३. स्या०—कामे।

[स्थान—इसिपतन, व्यक्ति—नन्दिपुत्त]

२१९ चिरप्पवासिं पुरिसं, दूरतो सोत्थिमागतं।
ञातिमित्ता सुहज्जा च, अभिनन्दन्ति आगतं ॥११॥

शब्दार्थ—सोत्थि=स्वस्थ। ञातिमित्ता=बन्धु और मित्र। सुहज्जा=सुहृद्।

अनुवाद—बहुत समय तक बाहर रहने वाले, दूर से आये हुये स्वस्थ पुरुष का बन्धु, मित्र और सहृदय लोग अभिनन्दन करते हैं।

२२०. तथेव कतपुञ्ञं पि, अस्मा लोका परं गतं।
पुञ्ञानि पटिगण्हन्ति, पियं ञाती व आगतं ॥१२॥

अनुवाद—उसी प्रकार इस लोक से परलोक को गये हुये कृत पुण्य पुरुष का भी आये हुये जाति-भाई के समान पुण्य कर्म स्वागत करते हैं।

———

१७. कोधवग्गो सत्तरसमो

[स्थान—निग्गोधाराम व्यक्ति—रोहिणी खत्तियकञ्ञा]

२२१. कोधं जहे विप्पजहेय्य मानं संयोजनं सब्बमतिक्कमेय्य।
तं नामरूपस्मिं असज्जमानं, अकिञ्चनं नानुपतन्ति दुक्खा ॥१॥

शब्दार्थ—जहे=त्याग देना चाहिये। संयोजनं सब्बं=सभी बन्धनों को। अतिक्कमेय्य=अतिक्रमण करना चाहिये। (सं० अतिक्रमध्वम्)। नामरूपस्मि=नाम और रूप में। असज्जमानं=अनासक्त।

अनुवाद—क्रोध को त्याग देना चाहिये। मान को त्याग देना चाहिये। सभी बन्धनों का अतिक्रमण करना चाहिये। नाम और रूप में अनासक्त उस अकिञ्चन पर दुःख नहीं आते।

विशेष—नाम और रूप—ये दो प्रत्यय संसार के अन्यतम कारण हैं। विज्ञान प्रत्यय से इनकी उत्पत्ति होती है और ये स्वयं छः आयतनों के कारण हैं। विशेष विवरण उदानपालि के 'पठमबोधिसुत्त' में इस प्रकार दिया गया है—

"इति इमस्मि सति इदं होति, इमस्सुप्पादा इदं उप्पज्जति, यदिदं—अविज्जापच्चया संखारा, संखारपच्चया विञ्ञाणं, विञ्ञाणपच्चया नामरूपं, नामरूपपच्चया सलायतनं, सलायतनपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानं, उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जातिपच्चया जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति। एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होती ति।"

[स्थान—अग्गालव चेतिय, व्यक्ति—अञ्ञतर भिक्खु]

२२२. यो वे उप्पतितं कोधं, रथं भन्तं व धारये[1]।
तमहं सारथिं ब्रूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो ॥२॥

शब्दार्थ—उप्पतितं = चढ़ते। भन्तं = भटके हुये (सं० भ्रान्तम्)। धारये = रोक लेता है (निग्गण्हितुं सक्कोति—बुद्धघोष)। रस्मिग्गाहो = लगाम पकड़ने वाला।

अनुवाद—जो (मनुष्य) चढ़ते क्रोध को भटके हुये रथ के समान रोक लेता है, उस व्यक्ति को (मैं) 'सारथि' कहता हूँ, अन्य तो (केवल लगाम पकड़ने वाले हैं।

[स्थान—राजगह (वेणुवन) व्यक्ति—उत्तरा उपासिका]

२२३. अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन, सच्चेनालीकवादिनं ॥३॥

अनुवाद—अक्रोध (शान्ति) से क्रोध को जीते, साधु (भलाई) से असाधु (दुर्जन) को जीते। दान से कृपण को (और) सत्य से झूठ बोलने वाले को जीते।

---

१. ब्र०—धारये।

विशेष—यह गाथा राजोवादजातक में भी उद्धृत हुई है। महाभारत के उद्योग पर्व के विदुर नीति प्रकरण में इसी भाव का निम्नलिखित श्लोक प्राप्त होता है—

अक्रोधेन जयेत् क्रोधं, असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन: जयेत् सत्यन चानृतम्।३९।७२

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति--महामोग्गलान थेर]

२२४. सच्चं भणे न कुज्झेय्य दज्जा अप्पं पि[1] याचितो।
एतेहि तीहि ठानेहि गच्छे देवान सन्तिके ॥४॥

शब्दार्थ—न कुज्झेय्य = क्रोध न करे (सं० न क्रुध्येत)। दज्जा = देवे (सं० दद्यात्)। 'अप्पं' पि = थोड़ा भी। तीहि = तीन (सं० त्रिभि:। ठानेहि = स्थानों से।

अनुवाद—सत्य बोले, क्रोध न करे, माँगे जाने पर थोड़ा भी देवे, इन तीन स्थानों (बातों) से देवों के पास जाये।

[स्थान—अञ्जनवन, समय—भिक्खूहि पुटठपञ्हं, आरब्भ[2]]

२२५. अहिंसका ये मुनयों निच्चं कायेन संवुता।
ते यन्ति अच्चुतं ठानं यत्थ गन्त्वा न सोचरे ॥५॥

शब्दार्थ—अच्चुतं = च्युत न होने वाले। ठानं = स्थान को। न सोचरे = शोक नहीं करते।

अनुवाद—जो अहिंसक तथा सदैव शरीर से संयत रहने वाले मुनि हैं वे च्युत न होने वाले स्थान को जाते हैं जहाँ जाकर वे शोक नहीं करते।

स्थान—गिज्झकूट, व्यक्ति—राजगहसेट्ठिनो दासी पुण्णा[3]]

२२६. सदा जागरमानाम अहोरत्तानुसिक्खिनं।
निब्बानं अधिमुत्तानं अत्थं गच्छन्ति आसवा ॥६॥

---

१. सिं०—दज्जाप्पस्मिम्पि।

२. ए० के० नारायण ने अपने संस्करण में स्थान—साकेत और व्यक्ति 'कोई ब्राह्मण' ऐसा लिखा है।

३. ए० के० नारायण के अनुसार "गिज्झकुट (राजगह) तथा पात्र—राजगृह श्रेष्ठी का पुत्र" है।

शब्दार्थ—जागरमानानं=जाग्रत रहने वालों के (सं० जाग्रताम्)। अहोरत्तानुसिक्खिनं=दिन-रात शिक्षित होने वालों के। निब्बानं अधिमुत्तानं=निर्वाण के प्रति प्रयत्नशील लोगों के। अत्थं=अस्त (नष्ट)।

अनुवाद—हमेशा जाग्रत रहने वाले, दिन-रात शिक्षित होने वाले (और) निर्वाण के प्रति प्रयत्नशील लोगों के आस्रव (चित्त-मल) अस्त (नष्ट) हो जाते हैं।

[स्थान—जेतवन; व्यक्ति—अतुल उपासक]

२२७. पोराणमेतं अतुल[१], नेतं अज्जतनामिव।
निन्दन्ति तुण्हिमासीनं, निन्दन्ति बहुभाणिनं।
मितभाणिं, पि निन्दन्ति, नत्थि लोके अनिन्दितो ॥७॥

शब्दार्थ – पोराणणं=प्राचीन या सनातन। अज्जतन=आज की। तुण्हीं=चुप (सं० तूष्णीम्)। मितभाणिं' पि=मितभाषी को भी।

अनुवाद—हे अतुल! यह आज की ही नहीं, यह पुरानी बात है, (लोग) (चुप) बैठने वालों की निन्दा करते हैं, बहुत बोलने वाले की निन्दा करते हैं (और) मितभाषी की भी निन्दा कहते हैं, संसार में अनिन्दित कोई नहीं है।

२२८. न चाहु न च भविस्सति न चेतरहि विज्जति।
एकन्तं निन्दितो पोसो, एकन्तं वा पसंसितो ॥८॥

---

१. "The commentator must have read atula instead of atulam, and he explains it as the name of a pupil whom Gautam addressed by that name. This may be so; but atula may be taken in the sense of incomparabbe, and in that case we ought to supply, with Prof. Weber, Some such word as 'saw' or saying." मैक्समूलर।

शब्दार्थ—अहु = हुआ (सं० अभूत्)। चेतरहि = च + एतर्हि (यहाँ)।

अनुवाद—बिल्कुल निन्दित अथवा बिल्कुल प्रशंसित पुरुष न तो (कभी) हुआ है, न (कभी) होगा और न यहाँ विद्यमान (ही) है।

२२९. यं चे विञ्ञू पसंसन्ति, अनुविच्च सुवे सुवे।
अच्छिद्दवुत्तिं मेधाविं, पञ्ञासीलसमाहितं ॥९॥

२३०. निक्ख जम्बोनदस्सेव, को तं निन्दितुमरहति।
देवा' पि तं पसंसन्ति ब्रह्मुना' पि पसंसितो ॥१०॥

शब्दार्थ—विञ्ञू = विज्ञ लोग (सं० विज्ञाः)। अनुविच्च = चुन-चुनकर (सं० अनुविच्य)। सुवे-सुवे = प्रतिदिन (श्वः श्वः)। अच्छिद्दवुत्तिं = अछिद्र अर्थात् निर्दोष आचरण वाले को। नेक्खं = निष्क[1] (प्राचीन काल का एक सिक्का)। जम्बोनदस्स = सुवर्ण की।

अनुवाद—जिस निर्दोष आचरण वाले, मेधावी, प्रज्ञा और शील से समन्वित व्यक्ति की विज्ञ लोग प्रतिदिन चुन-चुनकर प्रशंसा करते हैं, सुवर्ण के निष्क के समान (निष्कलंक) उस व्यक्ति की कौन निन्दा कर सकता है ? उसकी देवता भी प्रशंसा करते हैं, (वह) ब्रह्मा के द्वारा भी प्रशंसित होता है।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—छब्बग्गिय[2] भिक्खु]

२३१. कायप्पकोपं रक्खेय्य कायेन संवुतो सिया।
कायदुच्चरितं हित्वा, कायेन सुचरितं चरे ॥११॥

अनुवाद—शरीर के क्रोध की रक्षा करे, शरीर से संयत रहे। शारीरिक दुश्चरित्र को त्याग कर शरीर से सदाचार का आचरण करे।

२३२. वचीपकोपं रक्खेय्य, वाचाय संवुतो सिया।
वचीदुच्चरितं हित्वा, वाचाय सुचरितं चरे ॥१२॥

---

१. शुद्ध सुवर्ण की मुद्रा 'निष्क' (कलङ्क या मलरहित) कही जाती थी, जिसकी तौल के सम्बन्ध में मतभेद है। विस्तृत विवरण भूमिका में देखें।

२. ए० के० नारायण संस्करण में 'वज्जिय भिक्खु' ऐसा पाठ है।

अनुवाद—वाचसिक क्रोध (वचः प्रकोप) की रक्षा करे, वाणी से संयत रहे। वाचसिक दुश्चरित्र को त्याग कर वाणी से सदाचार का आचरण करे।

२३३. मनोपकोपं रक्खेय्य मनसा संवुतो सिया।
मनोदुच्चरितं हित्वा, मनसा सुचरितं चरे ॥१३॥

अनुवाद—मन के क्रोध की रक्षा करे, मन से संयत रहे। मन के दुश्चरित्र को त्याग कर मन से सदाचार का आचरण करे।

२३४. कायेन संवुता धीरा, अथो वाचाय संवुता।
मनसा संवुता धीरा, ते वे सुपरिसंवुता ॥१४॥

अनुवाद—धीर (पुरुष) शरीर से संयत, वाणी से संयत (और) मन से संयत रहते हैं। वास्तव में वे ही (पुरुष) सुसंयमित हैं।

डा० पी० एल० वैद्य ने इस का अनुवाद इस प्रकार किया है—

The wise controlled in act, in word, in thought, are well controlled indeed.

———

१८. मल्लवग्गो अट्ठारसमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—गोघातकपुत्त]

२३५. पण्डुपलासो व दानिसि, यमपुरिसा पि च तं[1] उपट्ठिता।
उय्योगमुखे च निट्ठसि, पाथेय्यं पि च ते न विज्जति ॥१॥

शब्दार्थ—पण्डुपलासो'व=पीले पत्ते के समान। इदानिसि=(इदानीं+असि) इस समय, हो। तं=तुम्हारे पास (सं० त्वाम्)। उपट्ठिता=उपस्थित हो गये हैं। उय्योगमुखे=महाप्रयाण अर्थात् मृत्यु के मुख में "परिहानिमुखे; इदं पन मरणनेव संधाय वुत्तं, मरणं ते पच्चुपट्ठितं ति अत्थो"—बुद्धघोष।

१. अ०—ते।

अनुवाद—इस समय (तुम) पीले पत्ते के समान हो और तुम्हारे पास यम के दूत भी उपस्थित हो गये हैं। (तुम) मृत्यु के मुख में खड़े हो पर तुम्हारे पास पाथेय भी नहीं है (अर्थात् परलोक को जाने वाले तुम्हारे पास कुशलकर्म रूपी पाथेय भी नहीं हैं)।

विशेष—परलोक में जाते समय अपना कर्म ही साथ रहता है—

यदेव कर्म केवलं, पुरा कृतं शुभाशुभमु।
तदेव पुत्र सार्थिकं भवत्यमुत्र गच्छतः॥

(महाभारत, मोक्षधर्म प० ३२१।५१)

२३६. सो करोहि दीपमत्तनो, खिप्पं वायम पण्डितो भव।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो, दिब्बं अरियभूमिं उपेहेसि[2] ॥२॥

शब्दार्थ—दीपमत्तनो=अपना द्वीप (रक्षा स्थान)। वायम्=उद्योग करो (सं० व्यायच्छस्व)। निद्धन्तमलो=निधूर्तमल अर्थात् अपगतमल वाला। एहेसि =जाओगे (स० एष्यसि)।

अनुवाद—इसलिसे (तुम) अपना द्वीप (रक्षा स्थान) बना लो (अर्थात् संसार रूपी सागर में अपने बचाव के लिये एक द्वीप बना लो), शीघ्र ही उद्योग करो, पण्डित, अपगतमल वाले (और) निष्कलंक बनो। फिर जन्म और जरा को प्राप्त न होगा। (ऐसा बनने पर तुम) दिव्य आर्यभूमि (आर्यपद) को जाओगे।

२३७. उपनीतवयो च दानिसि, सम्पयातोसि यमस्स सन्तिके।
वासो ते नत्थि अन्तरा, पाथेय्यं पि च ते न विज्जति ॥३॥

शब्दार्थ—सम्पयातोसि=पहुंच गये हो (सम्प्रयातोऽसि)। अन्तरा=मध्य में।

अनुवाद—इस समय तुम नष्ट आयु वाले हो (अर्थात् तुम्हारी आयु समाप्त हो चुकी है) और यमराज के समीप पहुँच गये हो। मध्य में (मार्ग में) तुम्हारा घर (वास-स्थान) नहीं है और तुम्हारे पास पाथेय भी नहीं है।

---

२. सिं०—अरियभूमिमेहिसि।

२३८. सो करोहि दीपमत्तनो खिप्पं वायम पण्डितो भव ।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो, न पुन जातिजरं उपेहसि ॥४॥

शब्दार्थ—जातिजरं = जन्म और जरा को । उपेहसि = प्राप्त होगे ।

अनुवाद—इसलिये (तुम) अपना द्वीप (रक्षा स्थान) बना लो, शीघ्र उद्योग करो, पण्डित, अपगतमल वाले (और) निष्कलंक बनो, फिर जन्म और जरा को प्राप्त न होगे ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतर ब्राह्मण]

२३९. अनुपुब्बेन मेधावी; थोकथोकं[1] खणे खणे ।
कम्मारो रजतस्सेव; निद्धमे मलमत्तनो ॥५॥

शब्दार्थ—अनुपुब्बेन = क्रमशः । खणे खणे = प्रति क्षण । कम्मारो = सुनार । निद्धमे = दूर करे (सं० निधमेत्) ।

अनुवाद—जिस प्रकार सुनार चाँदी के मैल को क्रमशः थोड़ा-थोड़ा करके प्रतिक्षण नष्ट करता है, उसी प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति अपने मल को प्रतिक्षण थोड़ा-थोड़ा क्रमशः नष्ट करे ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—तिस्स थेर]

२४०. अयसा व मलं समुट्ठितं तदुट्ठाय[2] तमेव खादति ।
एवं अतिधोनचारिनं सानि कम्मानि[3] नयन्ति दुग्गतिं ॥६॥

शब्दार्थ—समुट्ठितं = निकला हुआ । तदुट्ठाय = उससे निकलकर । अतिधोनचारिनं = धावन (पवित्र) का अतिक्रमण कर चलने वाले अर्थात् पवित्राचरण का अतिक्रमण करने वाले को । सानि = अपने (सं० स्वानि) ।

अनुवाद—जिस प्रकार लोहे से निकला हुआ मैल (जंग) उससे निकलकर उसे ही खा लेता है, उसी प्रकार पवित्राचरण का अतिक्रमण करने वाले को (उसके) अपने (ही) कर्म दुर्गति को ले जाते हैं ।

---

१. ब्र०—थोकं थोकं ।
२. ब्र०—ततुट्ठाय ।
३. सिं०—सककम्मानि ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—लालुदायी थेर]

२४१. असज्झायमला मन्ता, अनुट्ठानमला घरा ।
मलं वण्णस्स कोसज्जं, पमादो रक्खतो मलं ॥७॥

शब्दार्थ—असज्झायमला मन्ता=मन्त्र अस्वाध्याय मल वाले हैं अर्थात् मन्त्रों का मैल स्वाध्याय न करना है । अनुट्ठानमला घरा=गृहों का मैल अनुत्थान (मरम्मत न करना) । कोसज्जं=आलस्य (सं० कौसीद्यम्) ।

अनुवाद—स्वाध्याय न करना मन्त्रों का मल है, मरम्मत न करना घरों का मल है । वर्ण (सौन्दर्य) का मैल आलस्य है (और) असावधानी रक्षक (पहरेदार) का मैल है ।

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—अञ्ञतर कुलपुत्त]

२४२. मलित्थिया[1] दुच्चरितं, मच्छेरं ददतो मलं ।
मला वे पापका धम्मा, अस्मिं लोके परम्हि च ॥८॥

२४३. ततो मला मलतरं अविज्जा परमं मलं ।
एतं मलं पहत्वान[3] निम्मला होथ भिक्खवो ॥९॥

शब्दार्थ—मलित्थिया=(मलो+इत्थिया) स्त्री का मैल । मच्छेरं=कृपणता (मात्सर्य) । पापका धम्मा=बुरे धर्म अर्थात् बुरे कर्म[2] ।

अनुवाद—दुराचरण स्त्री का मैल है, कृपणता दानी का मैल है । बुरे कर्म इस लोक तथा परलोक में (भी) मैल है ।

शब्दार्थ—ततो मला=उस मैल से । होथ=हो (लोट्, मध्यम पुरुष बहुवचन में 'भू' धातु का रूप) ।

अनुवाद—उस मैल से भी अधिक मैल अविद्या परम मैल है । इस मैल को छोड़कर हे भिक्षुओ ! निर्मल हो जाओ ।

---

१. ना०—मल्लित्थिया ।

२. गाथा ८७ में इन्हीं को 'कृष्ण धर्म' कहा गया है ।

३. ना०—पहन्त्वान ।

विशेष—'अविद्या' सबसे बड़ा मैल है। इस लोक तथा परलोक में जितनी भी दुर्गति होती है, उन सबकी मूल अविद्या ही है। इतिवुत्तक के विज्जासुत्त (१३) में कहा भी गया है—

"या काचिमा दुग्गतियो अस्मिं लोके परम्हि च।
अविज्जामूलिका सब्बा, इच्छालोभसमुस्सया॥
यतो च होति पापिच्छो अहिरीको[1] अनादरो।
ततो पापं पसवति अपायं तेन गच्छति॥
तस्मा छन्दं च लोभं च अविज्जं च विराजयं।
विज्जं उप्पादयं भिक्खु सब्बा दुग्गतियो जहे ति॥

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—चुल्लसारि]

२४४. सुजीवं अहिरीकेन[1] काकसूरेन धंसिना।
पक्खन्दिना पगब्भेन, संकिलिट्ठेन जीवितं॥१०॥

शब्दार्थ—सुजीवं=आसानी से जीने योग्य (सं० सुजीव्यम्)। काकसूरेन= =कौआ के समान (स्वार्थ में) शूर। धंसिना=दूसरों का अहित करने वाला। पक्खन्दिना=पतित। पी० एल० वैद्य ने हस्तक्षेप करने वाला (Meddlesome) और मैक्सम्यूलर ने अपकारी (an insulting) अर्थ किया है। संकिलिट्ठेन=पापी।

अनुवाद—निर्लज्ज, कौआ के समान (स्वार्थ) में शूर दूसरे का अहित करने वाले, पतित, प्रगल्भ और पापी (व्यक्ति) का जीवन आसानी से जीने योग्य होता है।

२४५. हिरीमता च दुज्जीवं, निच्चं सुचिगवेसिना।
अलीनेनाप्पगब्भेन, सुद्धाजीवेन पस्सता॥११॥

शब्दार्थ—अलीनेन=सचेत या आलस्य रहित। पश्यता=ज्ञानी।

---

१. अह्रीकः (निर्लज्ज)।

अनुवाद—लज्जावान्, पवित्रता की खोज करने वाले, सचेत, अप्रगल्भ (quiet), शुद्ध जीविका वाले (spotless) और ज्ञानी व्यक्ति का जीवन कठिनाई से जीने योग्य होता है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्चसत उपासक[1]]

२४६. यो पाणमतिपातेति, मुसावादं च भासति ।
लोके अदिन्नमादियति, परदारं च गच्छति ॥१२॥

२४७. सुरामेरयपानं च, यो नरो अनुयुञ्जति ।
इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खणति अत्तनो ॥१३॥

शब्दार्थ—पाणमतिपातेति = प्राणियों का वध करता है । अदिन्नं = न दी हुई (वस्तु को) । आदियति = लेता है (आदत्ते) । ऐसो = वह ।

अनुवाद—जो व्यक्ति प्राणियों का वध करता है, झूठ बोलता है, संसार में न दी हुई वस्तु को लेता है (अर्थात् चोरी करता है) और परस्त्री-गमन करता है और जो मनुष्य सुरा और मैरेय के सेवन में लगा रहता है, वह यह—इसी संसार में अपनी जड़ खोदता है ।

विशेष—महात्मा विदुर के इस कथन से तुलना कीजिये—

अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः, पापैः सन्धिं परदाराभिमर्शम् ।
दम्भं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं, न सेवते यश्च सुखी सदैव ॥
(विदुर नीति, १।११३)

२४८. एवं भो पुरिस जानाहि, पापधम्मा असञ्ञता ।
मा तं लोभो अधम्मो च, चिरं दुक्खाय रन्धयुं ॥१४॥

शब्दार्थ—असञ्ञता = संयम रहित । तं = तुमको (सं० त्वाम्), रन्धयुं = जलाते रहें (सं० रन्धतु) ।

अनुवाद—हे पुरुष ! असंयमी इस प्रकार पाप करने वाले होते हैं—(यहाँ) जान लो । तुम्हें लोभ और अधर्म चिरकाल तक दुःख में न जलाते रहें ।

---

१. चौखम्बा संस्करण में यहाँ स्थान व व्यक्ति का निर्देश नहीं मिलता ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—तिस्सदहर]

२४९. ददाति वे यथासद्धं यथापसादनं जनो ।
तत्थ यो मङ्कु भवति[1], परेसं पानभोजने ।
न सो दिवा वा रत्तिं वा, समाधिमधिगच्छति ॥१५॥

शब्दार्थ—यथासद्धं=श्रद्धानुसार । यथापसादनं=प्रसन्नतानुसार । मङ्कु=मूक । समाधि=शान्ति, एकाग्रता ।

अनुवाद—मनुष्य (अपनी) श्रद्धा और प्रसन्नता के अनुसार दान देता है, वहाँ दूसरों के खान-पान में जो मौन रहता है, वह दिन या रात कभी भी शान्ति का लाभ नहीं करता ।

२५०. यस्स चेतं[2] समुच्छिन्नं, मूलघच्चं समूहतं ।
स वे दिवा वा रत्तिं वा, समाधिमधिगच्छति ॥१६॥

शब्दार्थ—चेतं=च+एतं=चैतद् । मूलघच्चं=नष्ट करने योग्य जड़ । समूहतं=उखाड़ दी गयी है ।

अनुवाद—और जिस व्यक्ति के ये (विचार) नष्ट हो गये हैं तथा (दुर्विचारों की) नष्ट करने योग्य जड़ उखाड़ दी गयी हैं, वह दिन या रात में (अर्थात् हर समय) शान्ति लाभ करता है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्च उपासक]

२५१. नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो गहो ।
नत्थि मोह समं जालं, नत्थि तण्हासमा नदी ॥१७॥

शब्दार्थ—गहो=ग्रह । डा० फजबोल ने इसका अर्थ 'बन्धन' Captivitas), वेबर ने जाल (fetter) और मैक्समूलर ने 'ग्राह' (shark) अर्थ किया है ।

अनुवाद—राग (आसक्ति) के समान अग्नि नहीं है, द्वेष के समान ग्राह नहीं है मोह के समान जाल नहीं हैं और तृष्णा के समान नदी नहीं है ।

---

१. ब्र० तत्थ यो च मङ्कु होती । सिं०—तत्थ चे मङ्कु यो होति । स्या०—तत्थ यो मङ्कुतो होति । २. सार०—च तं ।

विशेष—इस गाथा की तुलना धम्मपद की गाथा २०२ से कीजिये। दोनों गाथाओं का पूर्वार्द्ध प्रायः अक्षरसः मिलता है।

[स्थान—जातियावन (भद्दियनगर), व्यक्ति—मेण्डक सेट्ठि)

२५२. सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं, अत्तनो पन दुद्दसं।
परेसं हि सो वज्जानि, ओ पुनाति यथा भुसम्।
अत्तनो पन छादेति; कलिंवकितवा सठो ॥१८॥

शब्दार्थ—वज्जं=दोष (सं० वद्यम्)। पन=पुनः। ओपुनाति=फैलाता है (सं० अवपुनाति)। भुसं=भूसा (सं० बुसम्)। छादेति=ढकता है, छुपाता है। कलिं=पासा। कितवा=जुआरी से।

अनुवाद—दूसरों का दोष देखना सरल है किन्तु अपना (दोष) देखना कठिन है। वह दूसरों के दोषों को भूसे की तरह फैलाता है किन्तु अपने (दोषों को) उसी तरह छुपाता है जैसे शठ (धूर्त) जुआरी से पाँसा छुपाता है।

विशेष—इस सूक्ति से तुलना कीजिये—

नरः सर्षपमात्राणि परछिद्राणि पश्यति।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति॥

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—उज्झानसञ्ञि थेर]

२५३. परवज्जानुपस्सिस्स, निच्चं उज्झानसञ्ञिनो।
आसवा तस्स वड्ढन्ति, आरा सो आस आसवक्खया ॥१९॥

शब्दार्थ—परवज्जानुपस्सिस्स=दूसरों के दोष देखने वाले का। उज्झानसञ्ञिनो=(अपध्यान+सञ्ज्ञिनः) बुरे विचारों के साथी का। टीकाकार भदन्त बुद्धघोष 'परेसं रन्ध्रगवेसिताय' अर्थ किये हैं लेकिन मैक्सम्यूलर 'कष्ट देने के लिये सदैव प्रवृत्त रहने वाले का (Always inclined to be offended) ऐसा अर्थ करते हैं। आरा=दूर (सं० आरात्)।

अनुवाद—दूसरों के दोष देखने वाले (और) सदैव बुरे विचारों के साथी व्यक्ति के चित्त के मैल बढ़ते हैं। वह चित्त के मैलों के विनाश से दूर है।

[स्थान—कुसिनारा, व्यक्ति—सुभद्दपरिव्राजक]

२५४. आकासेव पदं नत्थि, समणो नत्थि, बाहिरे।
पपञ्चाभिरता पजा, निप्पपञ्चा तथागता ॥२०॥

अनुवाद—जैसे आकाश में मार्ग नहीं है, (बुद्ध-संघ से) बाहर (सच्चे) श्रमण नहीं हैं। प्रजा प्रपञ्चों में लिप्त है तथागत प्रपञ्च-रहित हैं।

विशेष—इस गाथा की प्रथम पंक्ति का अनुवाद डा० फजबोल ने 'No one who is outside the Buddhist Community can walk through the air, but only a Samana,' मैक्सम्यूलर ने 'a man is not a Samana by outword acts' और D' Alwis ने 'There is no foot-print in the air, there is not a Samana out of the pale of the Buddhist Community' किया है।

२५५. आकासेव पदं नत्थि, समणो नत्थि बाहिरे।
संखारा सस्सता नत्थि, नत्थि बुद्धानमिञ्जितं ॥२१॥

शब्दार्थ—सस्सता=शाश्वत। इञ्जितं=अस्थिरता (सं० इङ्गितम्)।

अनुवाद—जैसे आकाश में मार्ग नहीं है। (बुद्ध-संघ से) बाहर (सच्चे) श्रमण नहीं हैं। संस्कार शाश्वत नहीं होते। बुद्धों में अस्थिरता नहीं होती।

---

१९. धम्मट्ठवग्गो एकुनवीसतिमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—विनिच्छय महामच्च]

२५६. न तेन होति धम्मट्ठो, येनत्थं साहसा[1] नये।
यो च अत्थं अनत्थं च, उभो निच्छेय्य पण्डितो ॥१॥

शब्दार्थ—साहसा=सहास अर्थात् क्रूरता से (by violence—मैक्स-म्यूलर)। निच्छेय्य=निश्चय करे (सं० निश्चिनुयात्)।

---

१. ना—सहसा।

अनुवाद—जो मनुष्य क्रूरता (या शक्ति) से अर्थ (वास्तविकता) को (सामने) लाये (तो) वह धर्मात्मा नहीं हो जाता। किन्तु जो अर्थ (वास्तविकता) और अनर्थ (अवास्तविकता) दोनों को निश्चय करे वही पण्डित है।

२५७. असाहसेन धम्मेन, समेन नयती परे।
धम्मस्स गुत्तो मेधावी, धम्मट्ठो ति पवुच्चति ॥२॥

शब्दार्थ—परे = दूसरो को। गुत्तो = रक्षक। पवुच्चति = कहा जाता है (सं० प्रोच्यते)।

अनुवाद—जो मनुष्य दुस्साहस छोड़कर समान धर्म से दूसरों को (सन्मार्ग से) ले जाता है वह धर्म का रक्षक, मेधावी और धर्मिष्ठ है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—छब्बग्गिय भिक्खु[1]]

२५८. न तेन पण्डितो होति, यावता बहु भासति।
खेमी अवेरी अभयो, पण्डितो' ति पवुच्चति ॥३॥

अनुवाद—जो मनुष्य जितना अधिक बोलता है (केवल) इसी से वह पण्डित नहीं हो जाता। क्षेम चाहने वाला, वैर रहित (और) निर्भय (व्यक्ति ही) पण्डित कहा जाता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—एकुदान थेर]

२५९. न तावता धम्मधरो, यावता बहु भासति।
यो च अप्पं' पि सुत्वान धम्मं कायेन पस्सति।
स वे धम्मधरो, होति, यो धम्मं नप्पमज्जति ॥४॥

अनुवाद—जो मनुष्य जितना अधिक बोलता है (केवल) इसी से वह धर्मधर नहीं हो जाता। किन्तु जो थोड़ा भी सुनकर शरीर से धर्म को देखता (अर्थात् आचरण करता है) और जो धर्म से प्रमाद नहीं करता वही धर्मधर होता है।

---

१. सा०—वज्जिय भिक्खु।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—लकुण्टकभद्दिय थेर]

२६०. न तेन थेरो सो होति, येनस्स पलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स, मोघजिण्णो' ति वुच्चति ॥५॥

शब्दार्थ—पलितं = बुढ़ापे के कारण सफेद। मोघजिण्णो = व्यर्थ बुड्ढा।

अनुवाद—जिस मनुष्य का सिर बुढ़ापे के कारण सफेद हो गया है, इसी से वह थेर (स्थविर—वृद्ध) नहीं हो सकता। उसकी आयु परिपक्व हो गयी है (फिर भी) व्यर्थ ही बुड्ढा कहा जाता है।

विशेष—इस गाथा में वयोवृद्ध की अपेक्षा धर्मवृद्ध को ही श्रेष्ठ माना गया है। विदुर ने भी कहा है— "न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्"—

(विधुर नीति, ३।५८)

२६१. यम्हि सच्चं च धम्मो च, अहिंसा संयमो[1] दमो।
स वे वन्तमलो धीरो, थेरो इति[2] पवुच्चति ॥६॥

अनुवाद—जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम एवं दम है, वही मल रहित, धीर (और) थेर (वृद्ध) कहा जाता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सम्बहुल भिक्खु]

२६२. न वाक्करणमत्तेन, वण्णपोक्खरताय वा।
साधुरूपो नरो होति, इस्सुकी मच्छरी सठो ॥७॥

शब्दार्थ – वाक्करणमत्तेन = वाक् (वाणी) के कारण (साधन) मात्र से ही अर्थात् केवल अच्छा वक्ता होने के कारण। वण्णपोक्खरताय = वर्ण की सुन्दरता के कारण (सं० वर्णपुष्करतया)। ईस्सुकी = ईर्ष्यालु (इर्ष्युको)। मच्छरी = दम्भी।

अनुवाद—केवल वचन रूपी साधन मात्र से अथवा वर्ण की सुन्दरता के कारण (ही) ईर्ष्यालु, दम्भी तथा शठ (धूर्त) मनुष्य साधुरूप नहीं हो जाता।

---

१. चौ० सञ्ञमो। २. स्या०—सो थेरो ति। सा०—'तेरो' ति।

२६३. यस्स चेतं समुच्छिन्नं, मूलघच्चं समूहतं ।
स वन्तदोषो मेधावी, साधुरूपो, ति वुच्चति ॥८॥

अनुवाद—और जिसके ये (दोष) नष्ट हो गये हैं तथा (दोषों की) नष्ट करने योग्य जड़ उखाड़ दी गयी है, वह दोषरहित, मेधावी (मनुष्य) साधुरूप कहा जाता है ।

]स्थान—सावत्थी[1], व्यक्ति—हत्थक भिक्खु]

२६४. न मुण्डकेन समणो, अब्बतो अलिकं भणं ।
इच्छालोभ[2] समापन्नो, समणो किं भविस्सति ॥९॥

अनुवाद—व्रतरहित, झूठ बोलने वाला (व्यक्ति) मुण्डन करा लेने (मात्र) से श्रमण नहीं हो जाता । इच्छा और लोभ से भरा (मनुष्य) श्रमण क्या होगा ?

२६५. यो च समेति पापानि, अणुं थूलानि सब्बसो ।
समितत्ता हि पापानं, समणा' ति पवुच्चति ॥१०॥

शब्दार्थ—समेति = शमन करता है । सब्बसो = सर्वथा । समितत्ता हि = शमित होने के करण ही (सं शमितत्वाद् हि) ।

अनुवाद—और जो छोटे-बड़े पापों को सर्वथा शमन करता है (वह व्यक्ति) पापों के शमित होने के कारण ही श्रमण कहा जाता है ।

विशेष—'पापानं समितत्ता हि समणो' समण की यह व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द 'श्रमण' (√श्रम = परिश्रम करना) से एकदम भिन्न है । संस्कृत 'शम' पालि में 'सम' हो जाता है, बौद्धों ने इसी से 'समण की निष्पत्ति कर ली है । ऐसी मनगढ़न्त व्युत्पत्तियाँ संस्कृत काव्यों और धर्मशास्त्रों में भी देखी जा सकती हैं ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतर ब्राह्मण]

२६६. न तेन भिक्खु सो होति, यावता भिक्खते परे ।
विस्सं धम्मं समादाय, भिक्खु होति न तावता ॥११॥

---

१. ए० के नारायण ने सिंहली के पाठ के आधार पर स्थान 'जेतवन' माना है ।

२. सा० लाभ ।

शब्दार्थ—परे—दूसरों से (सं० परान्)। विस्सं = समस्त (सं० विश्वम्)।

अनुवाद—यह (मनुष्य) केवल इतने मात्र से ही भिक्षु नहीं हो जाता है कि वह दूसरों से भिक्षा माँगता है। समस्त धर्मों को ग्रहण करके मनुष्य भिक्षु नहीं हो जाता।

२६७. योध पुञ्ञं च पापं च, बाहेत्वा ब्रह्मचरिवा।
संखाय लोके चरति, स वे भिक्खू ति वुच्चति ॥१२॥

शब्दार्थ—योध = (य + इह) जो यहाँ। बाहेत्वा = छोड़कर। संखाय[1] = ज्ञान से (सं० संख्याया)।

अनुवाद—जो यहाँ पुण्य और पाप को छोड़कर ब्रह्मचर्यवान् है (तथा) लोक में ज्ञानपूर्वक विचरण करता है वही भिक्षु कहा जाता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—तित्थिय[2]]

२६८. न मोनेन मुनी होति, मूल्हरूपो अविद्दसु।
यो च तुलं व पग्गय्ह, वरमादाय पण्डितो ॥१३॥

शब्दार्थ—मोनेन = मौन धारण करने से। मूलहरूपो = साक्षात् मूर्ख। अविद्दसु = अविद्वान्।

अनुवाद—मौन धारण करने से साक्षात् मूर्ख और अविद्वान् (व्यक्ति) मुनि नहीं हो जाता। किन्तु जो तुला के समान ग्रहण करके (भले-बुरे को तौलता है) और अच्छे को ग्रहण करता है, वह पण्डित है।

२६९. पापानि परिवज्जेति, स मुनी तेन सो मुनी।
यो मुनाति उभो लोके, मुनि तेन पवुच्चति ॥१४॥

शब्दार्थ—परिवज्जेति = परित्याग करता है। मुनाति = मान करता है। उभो = पाप और पुण्य दोनों को। लोके = संसार में। श्री कन्छेदीलाल गुप्त ने 'उभौ लोकौ' ऐसी संस्कृत छाया 'कर जो दोनों लोकों का मनन करता है' अर्थ किया है। ए० के० नारायण 'दोनों लोकों का मान करता है' और मैक्सम्यूलर who in this world weight both sides' अर्थ करते हैं।

---

१. 'संख्या' का 'ज्ञान' अर्थ संख्या से बने 'सांख्य' शब्द में देखा जा सकता है। २. तीर्थिक।

अनुवाद—जो पापों का परित्याग करता है वह मुनि है (और) इसीलिये वह मुनि है। जो (इस) संसार में (पाप और पुण्य) दोनों का मान करता है (वह) इसीलिये मुनि कहा जाता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अरिय बालिसिक]

२७०. न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं, अरियो' ति पवुच्चति ॥१५॥

अनुवाद—इससे कोई मनुष्य आर्य नहीं हो जाता कि वह प्राणियों की हिंसा करता है। सब प्राणियों की अहिंसा ही से आर्य कहा जाता है।

विशेष—मैक्सम्यूलर की यह टिप्पणी ध्यान देने योग्य है—

"It seems as if the writer wished to guard against deriving ariya from ari, enemy." आर्य की परिभाषा के लिये देखिये गाथा २२।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सम्बहुल सीलादिसम्पन्न भिक्खू]

२७१. न सीलब्बतमत्तेन, बाहुसच्चेन वा पन।
अथवा समाधि लाभेन, विवित्तसयनेन वा ॥१६॥

२७२. फुसामि नेक्खम्मसुखं अपुथुज्जनसेवितं।
भिक्खु विस्सासमापादि, अप्पत्तो आसवक्खयं ॥१७॥

शब्दार्थ—बाहुसच्चेन=बहुत पढ़ने से (तिण्णं पिटकानं उग्गण्हितमत्तेन—बुद्धघोष) सं० बाहुश्रुत्येन। विवित्तसयनेन=एकान्त शयन से। नेक्खम्मसुखं=नैष्कर्म्य सुख। अपुथुज्जनसेवितं=अपृथक् जनों से सेवित अर्थात् बुद्धों से सेवित। विस्सासमापादि=(विश्वासं+मा+पादी) विश्वास मत करो। अप्पत्तो=अप्राप्त।

अनुवाद—केवल शील और व्रत धारण करने मात्र से अथवा बहुत पढ़ने से, समाधि लाभ से या एकान्त शयन से ही (मैं) बुद्धों द्वारा सेवित नैष्कर्म्य सुख का स्पर्श करता हूँ। हे भिक्षु! आश्रवों (चित्त के मैलों) के क्षय को बिना प्राप्त हुए विश्वास मत करो।

२०. मग्गवग्गो वीसतिमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्चसत भिक्खु]

२७३. मग्गाट्ठङ्गिको सेट्ठो, सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेटठो धम्मानं, द्विपदान च चक्खुमा ॥१॥

शब्दार्थ—द्विपदानं = द्विपदों अर्थात् मनुष्यों में। चक्खुमा = चक्षुमान् अर्थात् ज्ञानवान्।

अनुवाद—मार्गों में अष्टाङ्गिक मार्ग श्रेष्ठ है, सत्यों में चार वाक्य श्रेष्ठ हैं। धर्मों में वैराग्य और मनुष्यों में ज्ञानवान् श्रेष्ठ है।

२७४. एसो, व मग्गो नत्थञ्ञो, दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतं हि तुम्हे परिपज्जथ, मारस्सेसं पमोहनं ॥२॥

शब्दार्थ—नत्थञ्ञो = (नत्थि + अञ्ञो) दूसरा नहीं है। विसुद्धिया = विशुद्धि के लिये। तुम्हे = तुम (सं० यूयम्)। पटिपज्जथ = प्राप्त करो।

अनुवाद—दर्शन की विशुद्धि (निर्वाण) के लिये यही मार्ग है; अन्य नहीं है। तुम इसी को प्राप्त करो (अर्थात् इसी मार्ग पर चलो) यह (मार्ग) मार को मोहित करने वाला है।

विशेष—गाथा के अन्तिम पद का अनुवाद मैक्सम्यूलर ने Everything else is the deceit of Mara (the tempter) किया है। टिप्पणी में वह यह भी लिखते हैं "The last line may mean, "this way is the confusion of Mara, i. e. the discomfiture of Mara."

२७५. एतं हि[1] तुम्हे तटिपन्ना, दुक्खस्सन्तं करिस्सथ।
अक्खातो वो[2] मया मग्गो, अञ्ञाय सल्लसन्थनं[3] ॥३॥

शब्दार्थ—पटिपन्ना = प्राप्त हुए (सं० प्रतिपन्नाः)। अक्खातो = कहा गया है। अञ्ञाय = जानकर (सं० आज्ञाय)। सल्लसन्थनं = शल्य (दुःख) का।

---

१. ब्र०—एतीन्ह। २. सी०—वे; चो०—व।

३. ना०—सल्लकन्तनं।

संस्थान = विनाश (रागादिस लादीन संथनं निम्मथनं--बुद्धघोष)।

अनुवाद—इस (मार्ग) को प्राप्त हुए तुम दुःख का अन्त कर लोगे। दुःख के विनाश को जानकर मेरे द्वारा यह मार्ग कहा गया है।

२७६. तुम्हेहि किच्चमातप्पं अक्खातारो तथागता।
पटिपन्ना पमोक्खन्ति, झायिनो मारबन्धना ॥४॥

शब्दार्थ---तुम्हेहि = तुम्हारे द्वारा। किच्चं = की जानी है (स० कर्यम्)। आतप्प = तपस्या। पमोक्खन्ति = मुक्त होंगे।

अनुवाद—तपस्या तुम्हारे द्वारा (ही) की जानी है, तथागत (तो) उपदेष्टा हैं। (उपर्युक्त मार्ग को) प्राप्त ध्यानशील मार के बन्धन से मुक्त हो जायेंगे।

२७७. सब्बे संखारा अनिच्चाति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति[1] दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया ॥५॥

अनुवाद--'सभी संस्कार अनित्य है' इस प्रकार जब (मनुष्य) प्रज्ञा से देखता है तब (वह) दुःखों से मुक्ति को प्राप्त होता है। विशुद्धि (निर्वाण) का यही मार्ग है।

विशेष—मैक्समूलर ने गाथा के प्रथम पाद का अनुवाद 'All created things perish' किया है।

२७८. सब्बे संखारा दुक्खा ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया ॥६॥

अनुवाद—'सभी संस्कार दुःखमय हैं' इस प्रकार जब (मनुष्य) प्रज्ञा से देखता है तब (वह) दुःखों से मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। विशुद्धि (निर्वाण) का यही मार्ग है।

२७९. सब्बे धम्मा अनिच्चा[2] ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ॥७॥

अनुवाद – 'सभी धर्म अनित्य हैं' इस प्रकार जब (मनुष्य) प्रज्ञा से देखता है तब (वह) दुःखों से मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। विशुद्धि (निर्वाण) का यही मार्ग है।

---

१. चो०—निब्बिन्दती। ना०, चो०—'अनित्ता' ति।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पधानकम्मिक तिस्स थेर]

२८०. उट्ठानकालम्हि अनुट्ठहानो,
युवा बली आलसियं उपेतो।
संसन्नसंकप्पमनो कुसीतो,
पञ्ञाय मग्गं अलसो न विन्दति ॥८॥

शब्दार्थ—अनुट्ठहानो = न उठता हुआ (सं० अनुत्तिष्ठन्)। संसन्नसंकप्पमनो = कमजोर संकल्प और मन वाला।

अनुवाद—उठने के समय न उठता हुआ, युवा और बली होकर भी आलस्य को प्राप्त हुआ, कमजोर सङ्कल्प और मन वाला, दीर्घसूत्री, कुसी (व्यक्ति) प्रज्ञा के मार्ग को प्राप्त नहीं कर पाता।

विशेष—तुलना कीजिये—

"सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतः सुखम्।"

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—सूकरपेत]

२८१. वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो,
कायेन च अकुसलं[1] न कयिरा।
एते तयो कम्मपथे विसोधये,
आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं ॥९॥

अनुवाद—वाणी की रक्षा करने वाला, मन से संयत (और) शरीर से अकुशल (बुरा) कार्य न करे। इन तीन कर्मपथों को शुद्ध करे। ऋषियों के द्वारा प्रवर्तित मार्ग का सेवन करे।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पोठिल थेर]

२७२. योगा वे जायती भूरि, अयोगा भूरिसंखयो।
एतं द्वेधापथं ञत्वा, भवाय विभवाय च।
तथात्तानं निवेसेय्य, यथा भूरि पवड्ढति ॥१०॥

---

१. अ०—नाकुसल।

शब्दार्थ—भूरि=अगाध ज्ञान (पठविसमाय वित्थताय पञ्ञाय एतं नामं —बुद्धघोष:)। भवाय=उन्नति। विभवाय=विनाश। पवड्ढति=वृद्धि हो (सं० प्रवर्धते)।

अनुवाद—योग से अगाध ज्ञान उत्पन्न होता है। अयोग (अर्थात् योग न करने) से ज्ञान का क्षय होता है। उन्नति और विनाश के इन दो भिन्न भिन्न मार्गों को जानकर अपने को इस प्रकार लगाये जिससे ज्ञान की वृद्धि हो।

[स्थान जेतवन, व्यक्ति—सम्बहुल भिक्खु[1]]

२८३. वनं छिदथ मा रुक्खं, वनतो जायते भयं।
छेत्वा वनं च वनथं च, निब्बना होथ भिक्खवो ॥११॥

अनुवाद—(वासनाओं) के वन को काटो, वृक्ष को नहीं। वन (लिप्सा lust) से भय उत्पन्न होता है। वन और झाड़ी (वनथं=झाड़ी, स्त्री-सम्भोगेच्छा) को काटकर हे भिक्षुओं! वन रहित (वासना-शून्य) हो जाओ।

२८४. याव हि वनथो न छिज्जति अणुमत्तो पि नरस्स नारिसु।
पटिबद्धमनो व ताव सो, वच्छो खीरपको व मातरि ॥१२॥

शब्दार्थ—पटिबद्धमनो=आबद्ध मन वाला। वच्छो=बछड़ा। खीरपको =दूध पीने वाला।

अनुवाद—जब तक मनुष्य की स्त्री में लेशमात्र भी सम्भोगेच्छा काट नहीं जाती तब तक वह (मनुष्य) दूध पीने वाला बछड़ा जिस प्रकार माता (गाय) में आबद्ध (मन लगाये) रहता है, उसी प्रकार (स्त्री में) आबद्ध मन वाला रहता है।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—सुवण्णकारपुत्त थेर[2]]

२८५. उच्छिन्द[3] सिनेहमत्तनो[4] कुमुद सारदिकं व पाणिना।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय, निब्बानं सुगतेन देसितं ॥१३॥

---

१. ए० के० नारायण—कोई वृद्ध भिक्षु।

२. यह सारिपुत्तथेर के साथ घूमने वाला था।

३. ना०—उच्छिन्न। ४. सि—स्नेहमत्तोनो।

शब्दार्थ—उच्छिन्द = उखाड़ दो । सिनेहमत्तनो = आत्मस्नेह को । सारदिकं = शरत्कालीन । ब्रूहय = बढ़ाओ (वड्ढय—बुद्धघोष) ।

अनुवाद—जिस प्रकार शरत्कालीन कुमुद को हाथ से उखाड़ देते हैं उसी प्रकार आत्मस्नेह (अपने आप) उखाड़ दो । (नष्ट कर दो) । सुगत (बुद्ध) के द्वारा उपदिष्ट शान्तिमार्ग निर्वाण को ही बढ़ाओ ।

विशेष—मैक्समूलर ने गाथा के अन्तिम दोनों पदों को सर्वथा पृथक्-पृथक् मानकर "Cherish the road of peace. Nirvana has been shown by Sugata (Buddha)" अनुवाद किया है ।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—महाधन वाणिज]

२८६. इध वस्सं वसिस्सामि, इध हेमन्तगिम्हिसु ।
इति बालो विचिन्तेति, अन्तरायं न बुज्झति ॥१४॥

शब्दार्थ—वस्स = वर्षा ऋतु में । हेमन्तगिम्हिसु = हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में । अन्तरायं = मृत्यु (जवितान्तराय—बुद्धघोष) ।

अनुवाद—'यहाँ वर्षा ऋतु में रहूंगा, यहाँ हेमन्त और ग्रीष्म में' इस प्रकार मूर्ख सोचता है, मृत्यु को नहीं जानता ।

विशेष - महर्षि व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव से भी कुछ ऐसी ही बात कही थी—

महापदानि कत्थसे न चाप्यवेक्षसे परम् ।
चिरस्य मृत्युकारिकामनागतां न बुध्यसे ॥

शा० पर्व, १२१।३३

मृत्यु का कोई भरोसा नहीं, वह किसी भी क्षण आ सकती है । अतः ज्ञानार्जन में अति शीघ्रता करें—

न यावदेव पच्यते महाजनस्य यावकम् ।
अपक्व एव यावके पुरा प्रलीयसे त्वर ॥

(शा० पर्व, ३२१।४६)

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—किसा गोतमी थेर]

२८७. तं पुत्तपसुसंमत्तं, व्यासत्तमनसं नरं ।
सुत्त गाम महोघो व मच्चु आदाय गच्छति ॥१५॥

अनुवाद—पुत्र और पशु में लिप्त और आसक्त मन वाले उस पुरुष को मृत्यु उसी तरह ले जाती है जैसे सोये हुए गाँव को बाढ़[1]।

विशेष—इसी भाव के लिये गाथा ४७ तथा टिप्पणी देखिये।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पटाचार[2]]

२८८. न सन्ति पुत्ता ताणाय, न पिता न पि बान्धवा।
अन्तकेनाधिपन्नस्स, नत्थि ञातीसु ताणता ॥१६॥

शब्दार्थ—ताणाय=रखा के लिये (सं० त्राणाय)।

अनुवाद—मृत्यु के द्वारा पकड़े गये मनुष्य की रक्षा के लिये न पुत्र हैं, न पिता है, बन्धुगण भी नहीं है। जाति वालों से (भी) रखवाली नहीं होती।

विशेष—परलोक को जाते समय सङ्कट में कोई साथ नहीं देता—

न मातृपुत्रबान्धवा न संस्तुतः प्रियो जनः।
अनुव्रजन्ति सङ्कटे व्रजन्तमेकपातिनम् ॥

(शा० पर्व; ३२१।५०)

२८९. एतमत्थवसं ञत्वा पण्डितो सीलसंवुतो।
निब्बानगमनं मग्गं, खिप्पमेव विसोधये ॥१७॥

अनुवाद—इस बात को भली-भाँति जानकर पण्डित, शीलवान् मनुष्य शीघ्र ही निर्वाण की ओर जाने वाले मार्ग को साफ करें।

---

१. तुलनीय—संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥ (शा० पर्व; ३२१।२०)

२. सा—पटाचारा थेरी।

२१. पकिण्णकवग्गो एकवीसतिमो

[स्थान—वेणुवन, विषय—अत्तनो पुब्बकम्म[2]]

२९०. मत्तासुखपरिच्चागा, पस्से चे विपुलं सुखं ।
चजे मत्तासुखं धीरो, सम्पस्सं विपुलं सुखं ॥१॥

शब्दार्थ—मत्तासुखपरिच्चागा—अल्प (मात्रा) सुख के परित्याग से । चजे=छोड़ दे (सं० त्यजेत्) । समपस्सं=देखता हुआ ।

अनुवाद—अल्प सुख के परित्याग से यदि अत्यधिक सुख देखे तो अधिक सुख को देखता हुआ धीरवान् (व्यक्ति) थोड़ सुख को छोड़ दे ।

विशेष लौकिक सुख स्वल्प है, उसकी तुलना में निर्वाण का सुख विपुल है । अतः 'धी' पुरुष लौकिक सुख की कामना छोड़कर नैष्क्रम्य सुख की प्राप्ति के उद्योग करे ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—कुक्कुटअण्डखादी]

२९१. परदुक्खूपधानेन[3], अत्तनो सुखमिच्छति ।
वेरसंसग्गसंसट्ठो, वेरा सो न परिमुच्चति ॥२॥

शब्दार्थ—परदूक्खूपधानेन—दूसरों को दुःख देने से । संसट्ठो=संसक्त ।

अनुवाद—दूसरों को दुःख देने से (जो) अपने सुख की इच्छा करता है, वैर के संसर्ग से लिपटा हुआ वह वैर से नहीं छूटता ।

[स्थान—जातियावन (भद्दियनगर), व्यक्ति—भद्दिय भिक्खु]

२९२. यं हि किच्चं अपविद्धं[4], अकिच्चं पन कयिरति[5] ।
उन्नलानं पमत्तानं, तेसं वड्ढन्ति आसवा ॥३॥

शब्दार्थ—यं=जो (यत्) । किच्चं=करने योग्य अर्थात् कर्त्तव्य । अपविद्धं=त्यक्त है । कयिरति=करता है । उन्नलानं=बढ़े हुए मैल वाले ।

---

१. प्रकीणक । २. ए० के० नारायण ने स्थान—राजगृह (वेणुवन) और विषय-गङ्गावरोहण लिखा है । ३. सा०—परदुक्खूपदानेन ।
४. स्या०—तदपविद्धं । ५. ब्र०—करीयति ।

अनुवाद—जो करने योग्य है वह (मूर्ख के द्वारा) त्यक्त है। किन्तु न करने योग्य को वह करता है। (ऐसे) बढ़े हुए मैल वालों (और) प्रमत्तों के आस्रव (चित्त के मैल) बढ़ते हैं।

२९३. येसं च सुसमारद्धा, निच्चं कायगता सति।
अकिच्चं ते न सेवन्ति, किच्चे सातच्चकारिनो।
सतानं सम्पजानानं, अत्थं गच्छन्ति आसवा ॥४॥

शब्दार्थ—सुसमारद्धा = भली-भांति बनी हुई है। कायगता सति = शरीर में (मलिनतादि सम्बन्धी) स्मृति। शरीर बत्तीस प्रकार की गन्दगियों से भरा है—'केसा लोमा नखा दन्ता तचो मसं नहारू[3] अट्ठि अट्ठिमिञ्जं[4] वक्कं[5] हृदयं यकनं[6] किलोमकं[7] पिहकं[8] पफ्फास अन्तं अन्तगुणं[9] उदरियं करीसं[10] मत्थलुङ्गं[11] पित्तं सेम्हं[12] पुब्बो[13] लोहितं सेदो मेदो अस्सु वसा खेलो[14] सिंघाणिका[15] लसिका[16] मुत्तं ति"—खुद्दकपाठ, ३। सतानं = स्मृतिमानों के (सं० स्मरताम्)। सम्पजानानं = बुद्धिमानों के अत्थं = अस्त को।

अनुवाद—जिनकी स्मृति शरीर (की मलिनतादि के) सम्बन्ध में भली-भांति बनी रहती है वे सदैव कर्त्तव्य करने वाले अकर्त्तव्य का सेवन नहीं करते। (ऐसे) स्मृतिमान् और बुद्धिमानों के चित्त-मल अस्त (नाश) को प्राप्त हो जाते हैं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—लकुण्टक भद्दिय थेर]

२९४. मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो ॥५॥

शब्दार्थ—मातरं = माता अर्थात् तृष्णा को। पितरं = पिता अर्थात् अहंकार (अस्मिमान्) को। द्वे खत्तिये राजानो = दो क्षत्रिय राजाओं अर्थात् सस्सतदिट्ठि और उच्छेददिट्ठि को। रट्ठं = राष्ट्र अर्थात् द्वादसायतन को। द्वादस आयतन

---

३. स्नायु। ४. मज्जा। ५. वक्क (लार)। ६. यकृत्। ७. क्लोमक (lungs)। ८. प्लीहा। ९. लम्बी आंत। १०. मल। ११. मस्तुलुङ्ग (brain)। १२. श्लेष्म। १३. पीव। १४. शुक्र (वीर्य)। १५. सिंहाणिका (नाक का पोटा)। १६. लसिका (लार)।

है—आँख, कान, नाक, जीभ, काया और मन—ये भीतरी आयतन हैं; रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म—ये बाहरी आयतन हैं। सानुचर=अनुचर अर्थात् नन्दिराग सहित। अनीघो=निष्पाप (निद्दुक्खो – बुद्धघोष)।

अनुवाद—माता-पिता को मारकर, दो क्षत्रिय राजाओं को और अनुचर सहित राष्ट्र को नष्ट कर ब्राह्मण निष्पाप (या दुःख रहित) हो जाता है।

२९५. मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घपञ्चमं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो ॥६॥

शब्दार्थ—वेय्यग्घपञ्चम=पांचवें व्याघ्र को। टीकाकर भदन्त बुद्धघोष ने स्पष्ट किया है—"एत्थ ब्यग्घानुचरितो सप्पटिभयो दुप्पटिपज्जो मग्गो वेय्यग्घो नाम, विचिकिच्छानीवरणं पि तेन सदिसताय वेय्यग्घं नाम, तं पञ्चमं अस्साति वेय्यग्घपञ्चमं नाम।" अर्थात् सन्ध्यासमय जङ्गल में झाड़ी आदि को देखकर भी 'व्याघ्र' का संशय हो जाता है, इसीलिये बौद्धशास्त्रों में संशय (विचिकित्सा) को 'वेय्याग्घ' कहा जाता है। कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यान (आलस्य), औद्धत्य और विचिकित्सा—इन पांच निवरणों में विचिकित्सा (वेय्याग्घ) अन्तिम नीवरण है, अतः उक्त पाँचों को भी यहाँ वेय्याग्घपञ्चम' नाम से कहा गया है।

अनुवाद—माता पिता को मारकर, दो श्रोत्रिय राजाओं को और पाँचवें व्याघ्र को मारकर ब्राह्मण निष्पाप (या दुःखरहित) हो जाता है।

विशेष—उपर्युक्त दोनों गाथायें 'कूट' (अर्थात् प्रहेली) है। इस प्रकार के कूट-वाक्य प्राचीनकाल में सामान्य जनता से लेकर विद्वद्वर्ग तक में समान रूप से प्रचलित थे। एक उदाहरण महाभारत से लीजिये—

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव ॥
(विदुरनीति, १।४)

"एक (बुद्धि) से दो (कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य) का निश्चय करके चार (साम, दाम, दण्ड, भेद) से तीन (शत्रु, मित्र, उदासीन) को वश में करो। पांच (इन्द्रियों) को जीतकर छः (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, समाश्रयरूप)

को जानकर सात (स्त्री, द्यूत, मृगया, मद्य, कटुवचन, कठोर दण्ड, अन्याय से धनोपार्जन) कों छोड़कर सुखी बनो ।"

[स्थान—जेतवन[1], व्यक्ति—दारुसाकटिकस्स पुत्तो]

२९६. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो, च निच्चं बुद्धगता सति ॥७॥

अनुवाद—जिनकी स्मृति दिन-रात हमेशा बुद्ध विषयक बनी रहती है (वे) गौतम के श्रावक (शिष्य) भली-भाँति प्रबुद्धं (होकर) प्रकृष्ट बुद्ध हो जाते हैं ।

२९७. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो, च निच्चं धम्मगता सति ॥८॥

अनुवाद—जिनकी स्मृति दिन-रात हमेशा धर्म विषयक बनी रहती है (वे) गौतम के श्रावक (शिष्य भली-भाँति प्रकृष्ट होकर बुद्ध हो जाते हैं ।

२९८. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं संघगता सति ॥९॥

अनुवाद—जिनकी स्मृति दिन-रात हमेशा संघविषयक बनी रहती है (वे) गौतम के श्रावक (शिष्य) भली-भाँति प्रबुद्ध होकर प्रकृष्ट बुद्ध हो जाते हैं ।

विशेष—उपर्युक्त तीन गाथाओं में बुद्ध धर्म और संघ विषयक स्मृति को प्रकृष्ट बुद्ध होने का अन्यतमकारण बताया गया है । इन तीनों का क्रमशः विवेचन इस प्रकार है—

१. बुद्धानुस्सति—इति पि सो भगवा अरहं सम्मासबुद्धो विज्जाचरणसंपन्नो सुगतो लोकविद् अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथी सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा' ति तस्स गुणा अनुस्संरितब्बा ।

२. धम्मानुस्सति—स्वाक्खातो भगवता धम्मो संदिट्ठिको अकालिको एहिपस्सिको आपनेय्यिको पच्चत्त वन्दितब्बो विञ्ञूहि' ति एवं परियत्तिधम्मस्स चेव नवविधस्स लोकुत्तरधम्मस्स गुणा अनुस्सरितब्बा ।

---

१. ए० के० नारायण ने स्थान—राजगृह (वेणुवन) निर्दिष्ट किया है ।

३. संघानुस्सति - सुप्पटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, उजुपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, ञायपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, सामीचिपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो यदिदं चत्तारि पुरिसयुगानि अट्ठ पुरिसपुग्गला एस भगवतो सावक संघो आहुनेय्या पाहुनेय्यो दक्खिणेय्यो अञ्जलिकरणीयो अनुत्तरं पुञ्ञक्खेत्तं लोकस्सा' ति संघस्स गुणा अनुस्सतब्बा। (श्री पी० एल० वैद्य के संस्करण से साभार उद्धृत)

२९९. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं कायगता सति ॥१०॥

अनुवाद—जिनकी स्मृति दिन-रात हमेशा शरीर विषय बनी रहती है (वे) गोतम के श्रावक (शिष्य भली-भाँति प्रबुद्ध होकर प्रकृष्ट बुद्ध हो जाते है।

विशेष—'कायगता सति' के विशेष विवरण के लिये गाथा २९३ देखिये।

३००. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, अहिंसाय रतो मनो। ११॥

अनुवाद—जिनका मन दिन-रात हमेशा अहिंसा में रत रहता है (वे) गोतम के श्रावक (शिष्य) भली-भाँति प्रबुद्ध होकर प्रकृष्ट बुद्ध हो जाते हैं।

३०१. सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, अहिंसाय रतो मनो ॥१२॥

अनुवाद—जिनका मन दिन-रात हमेशा भावना (ध्यानाभ्यास) में रत रहता है (वे) गोतम के श्रावक (शिष्य) भली-भाँति प्रबुद्ध होकर प्रकृष्ट बुद्ध होते हैं।

[स्थान—महावन (वेसाली), व्यक्ति—वज्जिपुत्तक भिक्खु]

३०२. दुप्पब्बज्जं दुरभिरमं, दुरावासा घरा दुखा।
दुक्खोसमानसंवासो, दुक्खानुपतितद्धगू।
तस्मा न चद्धगू सिया, न चं दुक्खापुपतितो सिया ॥१३॥

शब्दार्थ—दुप्पब्बज्जं = दुष्प्रज्या । दुरभिरमं = दुरभिरमणीय । दुरावासा = न रहने योग्य । दुक्खोसमानसंवासों = असमान लोगों का संवाद दु:खद है । दुक्खानुपतितद्धगू = अद्धगू (अध्वग:) = राहगीर (अर्थात् संसार-मार्ग का पथिक), अनुपातितो = गिरा हुआ, दु:खी है । चद्धगू = च + अद्धगू (पथिक; ।

अनुवाद—दुष्प्रव्रज्या दुरभिरमणीय है, न रहने योग्य घर में रहना दु:खद है । असमान लोगों को संवास दु:खद है । (संसार-माग में) गिरा हुआ पथिक (जीव) दु:खी होता है । इसलिये (संसार-मार्ग का) पथिक न बने और न दु:ख में गिरा हुआ बने ।

विशेष—डा० पी० एल० वैद्य द्वारा किया गया अनुवाद भी ध्यान देने योग्य है—Hard it is to leave home as a recluse ! Hard also to live at home as a house-holder. Hard it is to bwell will the equal. and the itinerant (mendicant is beset with pain. Let no man be therefore, itinerant and be will not be beset with pain.

[स्थान जेतवन, व्यक्ति चित्तगृहपति]

२०३. सुद्धो सीलेन सम्पन्नो, यसोभोगसमप्पितो ।
यं यं पदेसं भजति, तत्थ तत्थेव पूजितो ॥१४॥

अनुवाद—श्रद्धा (और) शील से सम्पन्न, यश (और) भोग से युक्त (व्यक्ति) जिस-जिस प्रदेश में रहता है, वहीं-वहीं (वह) पूजित होता है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अनाथपिण्डकस्स धीता[1]]

२०४. दूरे सन्तो पकासेन्ति हिमवन्तो व पब्बतो ।
असन्तेत्थ न दिस्सन्ति, रत्ति खित्ता यथा सरा ॥१५॥

अनुवाद—बर्फीले पर्वतों के समान सन्त दूर से ही प्रकाशित होते हैं । असन्त रात्रि में फेंके गये बाणों की तरह समीप में (एत्थ) भी नहीं दिखायी देते ।

---

१. ए० के० नारायण ने व्यक्ति का नाम (चुल्ल) सुभद्दा दिया है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—एकविहारिक[1] थेर]

३०५. एकासनं एकसेय्यं, एको चरमतन्दितो।
एको दमयमत्तानं वनन्ते रमितो सिया ॥१६॥

शब्दार्थ—एकसेय्यं = एक शय्या वाला। एको = अकेला। चरमतन्दितो = विचरण करता हुआ। अतन्द्रित = आलस्य रहित। रमितो = (रतः) रमण करे।

अनुवाद—एक आसन वाला, एक शय्या वाला, आलस्य रहित एकाकी विचरण करता हुआ (तथा) अपने को दमन करता हुआ (मनुष्य) वन में रत रहे।

---

२२. निरयवग्गो वावीसतिमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सुन्दरी परिब्बाजिका]

३०६. अभूतवादी निरयं उपेति, यो वा[2] पि कत्वा 'न करोमि'[3] चाह।
उभो पि ते पेच्च समा भवन्ति, निहीनकम्मा मनुजा परत्थ ॥१॥

शब्दार्थ—अभूतवादी = न हुई बात को कहने वाला। पेच्च = मरकर। निहीनकम्मा = नीच कर्म करने वाला। परत्थ = दूसरे लोक में।

अनुवाद—न हुई बात को कहने वाला नरक को जाता है और वह भी जो करके 'मैं नहीं करता' कहता है। हीनकर्म करने वाले वे दोनों ही मनुष्य मरकर दूसरे लोक में समान होते हैं।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—दुच्चरितफलानुभावपीड़ितसत्त]

३०६. कासावकण्ठा बहवो, पापधम्मा असञ्ञता।
पापा पापेहि कम्मेहि, निरयं ते उपपज्जरे ॥२॥

---

१. एकाकी बिहार करने वाला स्थविर। २. सिं०—चा,
३. चौ— करोमि; सा०—स्या०—करोमीति।

अनुवाद—कण्ठ में गेरुआ वस्त्र डालने वाले बहुत से पापी (और) असंयत होते हैं · वे पापी (अपने) कर्मों से नरक में जाते हैं।

विशेष—महाभारतकार ने मोक्षधर्म पर्व के ३२०वें अध्याय में पञ्चशिखाचार्य के निम्न मत को उद्धृत किया है—

काषायधारणं मौण्ड्यं त्रिविष्टब्धं कमण्डलुम्।
लिङ्गान्युत्पथभूतानि न मोक्षायेति मे मतिः ॥४७॥

यही नहीं; यम, नियम, काम द्वेष आदि के सम्बन्ध में पञ्चशिखाचार्य ने गृहस्थों और संन्यासियों को तुल्य ठहराया है—

यमे च नियमे चैव कामे द्वेषे परिग्रहे।
माने दम्भे तथा स्नेहे सदृशास्ते कुटुम्बिभिः ॥ वही, ४१॥

यम-नियमादि से गृहस्थ भी मोक्ष प्राप्त कर लेता है और काम-द्वेषादि से ग्रसित भिक्षु भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

स्थान—महावन (वेसाली), व्यक्ति—वग्गुमुदातीरिय भिक्खु।

३०८. सेय्यो अयोगुलो भुत्तो, तत्तो अग्गिसिखूपमो।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डम सञ्ञतो ॥३॥

शब्दार्थ – अयोगुलो = लोहे का गोला। तत्तो = तप्त। यञ्चे = यत् + चेन = यश्चेत्। रट्ठपिण्डं = राष्ट्र का अन्न।

अनुवाद—जो दुराचारी और असंयमी (मनुष्य) राष्ट्र (देश) का अन्न खाये तो (उसकी अपेक्षा) अग्नि की लौ के समान जलता हुआ लोहे का गोला खाना श्रेयस्कर है।

विशेष – मैक्सम्यूलर ने D' Alwis का अनुसरण करते हुये इन दोनों (३०७–८) गाथाओं को 'विनयपिटक' से गृहीत माना है, पर उन्होंने विनयपिटक में इसका स्थान-संकेत नहीं दिया।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—खेमक[1]]

३०९. चत्तारि ठानानि नरो पमत्तो, आपज्जति परदारूपसेवी।
अपुञ्ञलाभं न निकामसेय्यं, निन्दं ततीयं निरयं चतुत्थं ॥४॥

---

१. ए० क० नारायण के अनुसार खेम (श्रेष्ठीपुत्र) है, चौखम्बा संस्करण में खेमक को 'अनाथपिण्डिकस्स भागिनेय्यो' बताया गया है।

शब्दार्थ—ठानानि=स्थानों को। आपज्जति=प्राप्ति करता है। (सं० आपद्यते)। निकामसेय्यं=मनचाही नींद।

अनुवाद—पर-स्त्री का सेवन करने वाला प्रमत्त मनुष्य चार स्थानों (गतियों) को प्राप्त करता है—अपुण्य (पाप) का लाभ, मनचाही नींद का अभाव, तीसरी निन्दा (और) चौथा नरक।

३१०. अपुञ्ञलाभो च गती च पापिका,
भीतस्स भीताय रती च थोकिका।
राजा च दण्डं गुरूकं पणेति, तस्मा नरो परदारं न सेवे। ५॥

शब्दार्थ—भीताय=भयभीत स्त्री का। रती=प्रेम। थोकिका=थोड़ा-सा। पणेति=बनाता है अर्थात् नियत करता है।

अनुवाद—(ऐसे मनुष्य को) अपुण्य लाभ, बुरी गति और भयभीत (पुरुष) की डरी हुई (स्त्री) की थोड़ी सी प्रीति (प्राप्त होती है) किन्तु राजा भारी दण्ड नियत करता है, इसीलिए मनुष्य दूसरे की स्त्री का सेवन न करे।

स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतर दुब्बच भिक्खु]

३११. कुसो यथा दुग्गहितो, हत्थमेवानुकन्तति।
सामञ्ञं दुप्परामट्ठं, निरयायुपकड्ढति[1]॥६॥

शब्दार्थ—अनुकन्तति=काट देती है। सामञ्ञं=श्रामण्य। दुप्परामट्ठं=ठीक तरह से ग्रहण न किया गया। निरयाय=नरक के लिये। उपकड्ढति=खींचता है (सं० उपकर्षति)।

अनुवाद—जिस प्रकार ठीक तरह से न पकड़ी गयी कुशा हाथ को काट देती है (उसी प्रकार) ठीक तरह ग्रहण न किया गया श्रामण्य नरक के लिए खींचता है।

३१२. यं किञ्चि कम्मं सङ्किलिट्ठं च यं वतं।
सङ्कस्सरं ब्रह्मचरियं, न तं होति महप्फलं॥७॥

शब्दार्थ—संकिलिट्ठं=क्लेश युक्त। सङ्कस्सर=शङ्का और काम से युक्त।

अनुवाद—जो कोई कर्म शिथिल है, जो व्रत क्लेशयुक्त है और (जो) ब्रह्मचर्य शङ्का और स्मर (काम) से युक्त है वह महाफल (दायक) नहीं होता।

---

१. अ०—निरयायुपकड्ढति।

३१३. कयिरञ्चे[1] कयिराथेनं, दळ्हमेनं परक्कमे।
सिथिलो हि परिब्बाजो भियो आकिरते रजं ॥८॥

शब्दार्थ—कयिरञ्चे=यदि करना है (सं० कुर्याच्चेत)। कयिराथेनं=एनं (इसे अर्थात् प्रव्रज्या कर्म को)+कयिराथ=करे (सं० कुर्वीत)। परक्कमे=पराक्रम करे। भिय्यो=होकर (सं० भूय)। आकिरते=बिखेरता है।

अनुवाद—यदि प्रव्रज्या कर्म को करना है, तो उसे कर डाले, इसमें दृढ़तापूर्वक पराक्रम करे क्योंकि शिथिल हुआ परिव्राजक धूल (ही) बिखेरता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतरा इस्सापकता[2] इत्थि]

३१४. अकतं दुक्कतं[3] सेय्यो पच्छा[4] तप्पति[5] दुक्कतं।
कतं च सुकतं सेय्यो, यं कत्वा नानुतप्पति ॥९॥

अनुवाद—दुष्कृत (पाप) न करना श्रेष्ठ है (क्योंकि वह) पीछे दुःख देता है। सुकृत (पुण्यकर्म) करना श्रेष्ठ है जिसे करने के बाद (मनुष्य) दुःखी नहीं होता।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सम्बहुल आगन्तुक भिक्खु]

३१५. नगरं यथा पच्चन्तं गुत्तं सन्तरबाहिरं।
एवं गोपेथ अत्तानं, खणो वे[6] मा उपच्चगा।
खणातीता हि सोचन्ति, निरयम्हि समप्पिता ॥१०॥

शब्दार्थ—पच्चन्तं=सीमान्त (सं० प्रत्यन्तम्)। सन्तरबाहिरं=भीतर बाहर से। उपच्चगा=चला जाये (सं० उपातिगात्)। निरयम्हि=नरक में।

अनुवाद—जिस प्रकार सीमान्त नगर भीतर-बाहर से (भली-भाँति) रक्षित होता है उसी प्रकार अपने को (भीतर-बाहर से) रक्षा करे। क्षण (अवसर) न चला जाय। अवसर निकाल देने वाले निश्चय ही नरक में पड़े हुए शोक करते हैं।

---

१. सिं०—कयिरा चे; ना०—कयिरा च। २. कोई ईर्ष्यालु स्त्री। ३. अ०—दुक्कटं। ४. चौ०—पच्चा। ५. सा०—तपति। ६. ना०—वो।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—निगण्ठ[1]]

३१६. अलज्जिताये[2] लज्जन्ति, लज्जिताये[3] न लज्जरे ।
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥११॥

अनुवाद—लज्जा न करने योग्य (कार्यों) में (जो) लज्जा नहीं करते हैं (और) लज्जा करने योग्य (कार्यों) में लज्जा नहीं करते (वे) मिथ्यादृष्टि ग्रहण करने वाले प्राणी (सत्ता=सत्वाः) दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

३१७. अभये भयदस्सिनो, भये चाभयदस्सिनो ।
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥१२॥

अनुवाद—अभय में भय देखने वाले और भय में अभय देखने वाले मिथ्यादृष्टि को ग्रहण करने वाले प्राणी दुर्गती को प्राप्त होते हैं।

[स्थान जेतवन, व्यक्ति—तित्थियसावक]

३१८. अवज्जे वज्जमतिनो, वज्जे चावज्जदस्सिनो ।
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥१३॥

अनुवाद—दोष रहित (कार्यों) में दोष बुद्धि वाले और दोषयुक्त (कार्यों) में अदोष देखने वाले, मिथ्यादृष्टि को ग्रहण करने वाले प्राणी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

३१९. वज्जं च वज्जतो ञत्वा, अवज्जं च अवज्जतो ।
सम्मादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति सुग्गतिं ॥१४॥

अनुवाद—दोष रहित (कार्यों) में दोष बुद्धि वाले और दोष रहित जानकर सम्यक् दृष्टि को ग्रहण करने वाले प्राणी सद्गति को प्राप्त होते हैं।

---

१. जैन दिगम्बर साधु (निग्रन्थः)। २. सा०—अलज्जिताये।
३. सा—लज्जिताये।

२३. नागवग्गो तेवीसतिमो

[स्थान—कोसम्बी[1], व्यक्ति—आनन्दत्थेर]

३२०. अहं नागो' व संगामे, चापतो पतितं सरं ।
अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं, दुस्सीलो हि बहुज्जनो ॥१॥

शब्दार्थ—चापतो=धनुष से । अतिवाक्य=कटु वाक्य को । तितिक्खिस्सं=सहन करूंगा (सं० तितिक्षष्ये) ।

अनुवाद—मैं कटु वाक्य को सहन करूंगा जैसे हाथी संग्राम में धनुष से छूटे हुये बाण (सहन करता है) । दु:शील (मनुष्य) निश्चय ही अधिक हैं ।

३२१. दन्तं नयन्ति समितिं, दन्तं राजाभिरूहति ।
दन्तो सेट्ठो मनुस्सेसु, यो' तिवाक्यं तितिक्खति ॥२॥

शब्दार्थ—दन्तं=दमन किये गये अर्थात् वशीकृत (हाथी) को । समितिं—युद्ध में । तितिक्खति=सहन करता है (सं० तितिक्षते) ।

अनुवाद—वश में किये गये (हाथी) को युद्ध में ले जाते हैं, वशीकृत (हाथी) पर राजा चढ़ता है । मनुष्यों में जिसने अपने को दमन कर लिया है (वही) श्रेष्ठ है जो कटु वाक्य को सहन करता है ।

३२२. वरमस्सतरा दन्ता, आजानीया च सिन्धवा ।
कुञ्जरा च महानागा, अत्तदन्तो ततो वरं ॥३॥

शब्दार्थ—अस्सतरा=खच्चर । आजानीया=अच्छी नस्ल के घोड़े (सं० आजानेया:) । शब्दकल्पद्रुम में 'आजानेय' की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

"शक्तिभिर्भिन्नहृदया: स्खलन्तोऽपि पदे-पदे ।
आजानन्ति संज्ञामानेयास्तत: स्मृता: ।।"

शब्दार्थ—कुञ्जरा न महानागा=यद्यपि कुञ्जर और महानाग दोनों ही का अर्थ हाथी है फिर भी 'महानागकुञ्जर' ऐसा शब्द मान लेने पर श्रेष्ठ

---

१. ए० के० नारायण ने स्थान का नाम 'जेतवन' दिया है ।

बड़ा हाथी' अर्थ होगा। अमर कोषकार का वाक्य है—

'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुंगवर्षभकुञ्जराः।
सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थवाचकाः।

अनुवाद—दमन किये गये खच्चर, सिन्ध के अच्छी नस्ल के घोड़े और श्रेष्ठ (ऊंचे) बड़े हाथी अच्छे होते हैं। अपने आपको दमन करने वाला उससे भी अच्छा है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—हत्थाचरियपुब्बक भिक्खु]

३२३. न हि एतेहि यानेहि[1] गच्छेय्य अगतं दिसं।
यथात्तना[2] सुदन्तेन, दन्तो दन्तेन गच्छति ॥४॥

शब्दार्थ—यानेहि = सवारियों से। अगतं दिसं = न गयी हुई दिशा को अर्थात् निर्वाण को।

अनुवाद—इन सवारियों से (पहले कभी) न गयी हुई दिशा (निर्वाण) को (मनुष्य) नहीं जा सकता। दान्त (संयमी) मनुष्य अच्छी तरह दम से दमन किये गये अपने द्वारा (वहां) जा सकता है।

[स्थान—सावत्थी[3], व्यक्ति—परिजिण्णब्राह्मणपुत्त]

३२४. धनपालो[4] नाम कुञ्जरो, कटुप्पभेदनो[5] दुन्निवारयो।
बद्धो कवलं न भुञ्जति, सुमरति नागवनस्स कुञ्जरो ॥५॥

शब्दार्थ—कटुकप्पभेदनो = तीक्ष्ण मदवाला। ए० के० नारायण तथा कन्छेदी लाल गुप्त ने 'कटुक' को 'कटक' का पालिरूप मानकर 'सेना को तितर-बितर कर देने वाला' अर्थ किया है जो नितान्त असंगत है। टीकाकार बुद्धघोष ने 'तिखिणमदो' ही अर्थ किया है। संस्कृत में प्रभेद या प्रभेदन का

१, २. इण्डिया आफिस पुस्तकालय की पाण्डुलिपि में क्रमशः "यानेहि, यथ' अत्तानं" पाठ हैं, मैक्समूलर "यथ' अत्तना" पाठ मानते हैं (दे० मैक्समूलर-संस्करण की पाद-टिप्पणी)। ३. सा०—जेतवन। ४. सि०—धनपालको। ५. ब्र०—कटुकभेदनो।

अर्थ 'मदस्राव' होता है। नागवनस्स = हाथियों के जङ्गल की। सुमरति—याद करता है।

अनुवाद—तीक्ष्ण मद वाला, दुर्धर्ष धनपाल नामक हाथी बंध जाने पर ग्रास नहीं खाता, हाथियों के जंगल को (ही) याद करता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति = पसेनदिं (कोसलराजा)]

३२५. मिद्धि यदा होति महग्घसो च, निद्दायिता सम्परिवत्तसायी।
महावराहो' व निवापपुट्ठो, पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो ॥६॥

शब्दार्थ—मिद्धि = आलसी (fat = मैक्सम्यूलर)। महग्घसो = बहुत खाने वाला (सं० महाघसः)। निद्दायिता = निद्रालु। सम्परिवत्तसायी = करवट बदल-बदल कर सोने वाला। निवापपुट्ठो = खा-खा कर मोटा।

अनुवाद—जब (मनुष्य) आलसी, बहुत खाने वाला, निद्रालु, करवट बदल-बदल कर सोने वाला खा-खा कर बड़े सुअर के समान मोटा (हो जाता है) तब वह मूर्ख बार-बार गर्भ (जन्म) को प्राप्त होता है।

[स्थान—जेतवन व्यक्ति—सानु सामणेर]

३२६. इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं, येनिच्छक यत्थान यथासुखं।
तदज्जहं निग्गहेस्सामि योनिसो, हत्थिप्पभिन्नं विय अङ्कुसग्गहो ॥७॥

शब्दार्थ—पुरे = पहले। अचारि = विचरता था (सं० अचरत्)। चारिकं = चारिका अर्थात् चहलकदमी। येनिच्छक = यथेच्छ। तदज्जहं = तत् + अज्ज (अद्य) + अहं = उसे आज मैं। योनिसो = मां सहित (योनि = जन्म स्थल)। हत्थिप्पभिन्नं = मदोन्मत्त हाथी को। अङ्कुसग्गहो = अंकुश ग्रहण करने वाला अर्थात् महावत।

अनुवाद—यह चित्त पहिले अपनी इच्छानुसार, कामनाओं के अनुसार (और) सुखों के अनुसार चहलकदमी करता रहा (अर्थात् विचरता रहा) मैं आज उसे (उसकी) मां के सहित वश में करूंगा जैसे महावत मदोन्मत्त हाथी को।

[स्थान = जेतवन, व्यक्ति—कोसलरञ्जस्पावेय्यकहत्थी]

३२७. अप्पमादरता होथ, सचित्तमनुरक्खथ।
दुग्गा उद्धरथत्तानं, पंके सत्तो व कुञ्जरो ॥८॥

अनुवाद—अप्रमाद में रत हो जाओ, अपने चित्त की रक्षा करो (इस संसार रूपी) दुर्ग से अपना उसी तरह उद्धार करो जैसे कीचड़ में फंसा हुआ हाथी (अपना उद्धार करता है)।

[स्थान—पालिलेय्यक, व्यक्ति—सम्बहुलभिक्खु]

३२८. सचे लभेथ निपक सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि, चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा ॥९॥

शब्दार्थ— निपक=परिपक्व बुद्धि वाला। सद्धिं=साथ (सं० सार्धम्)। अभिभुय्य=दूर कर। परिस्सयानि=आश्रयों को (सं० परिश्रयान्) मैक्सम्यूलर ने Dangers अर्थ किया है। तेनत्तमनो—तेन=उसके साथ, अत्तमनो (आप्त-मनो:) विश्वस्तचित्त।

अनुवाद—यदि साथ चलने वाले, साधुता से विहार करने वाले धैर्यशील और परिपक्व बुद्धि वाले सहायक को प्राप्त करे तो सभी (अन्य) आश्रयों को दूर कर वह स्मृतिमान् उसके साथ विश्वस्तचित्त हो विचरण करे।

विशेष—वही गाथा अपने अविकल रूप में सुत्तनिपात के तीसरे सुत्त खग्गविषाणसुत्त में ४५ वीं गाथा है।

३२९ नोचे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
राजा' व रट्ठं विजितं पहाय, एको चरे मातङ्गरञ्ञे' व नागो ॥१०॥

अनुवाद—यदि परिपक्व बुद्धि वाले, साथ चलने वाले, साधुता से विहार करने वाले, धैर्यशाली सहायक को प्राप्त न कर सके तो जीते गये राष्ट्र को छोड़कर राजा के समान (और) मातङ्गारण्य में हाथी के समान अकेला (ही) विचरण करे।

विशेष—यह गाथा सुत्तनिपात के तीसरे सुत्त 'खग्गविषाणसुत्त' की ४६ वीं गाथा है।

३३०. एकस्स चरितं सेय्यो, नत्थि बाले सहायता।
एको चरे न च पापानि कयिरा,
अप्पोस्सुको मातङ्गरञ्ञे' व नागो ॥११॥

अनुवाद—अकेले का विचरना श्रेष्ठ है। मूर्ख की सहायता (Compa-

nionship) अच्छी नहीं है। पाप कर्म न करे। अनुत्सुक होकर मातङ्गारण्य में हाथी के समान अकेला विचरण करे।

(स्थान—अरञ्ञकुटिका (हिमवन्तप्पदेसे), व्यक्ति—मार)

३३१. अत्थम्हि जातम्हि सुखा सहाया, तुट्ठी सुखा या इतरीतरन।
पुञ्ञं सुखं जीवितसंखयम्हि, सब्बस्स दुक्खस्स सुखं पहानं ॥१२॥

शब्दार्थ—अत्थम्हि जातम्हि = अर्थ (काम) आ जाने पर। इतरीतरेन = अन्यान्य से अर्थात् जिस किसी भी वस्तु से। तुट्ठी = तुष्टि। जीवितसंखयम्हि = जीवित (जीवन) के क्षय होने पर। पहानं = विनाश।

अनुवाद—काम आ जाने पर सहायक (= मित्र) सुखकर होते हैं। जिस किसी भी वस्तु से जो तुष्टि होती है (वह भी) सुखदायिनी (होती है)। जीवन के क्षय होने पर पुण्य सुखद होता है (और) सभी दुःखों का विनाश सुखकारी होता है।

३३२. सुखा मत्तेय्यता लोके, अथो पेत्तेय्यता सुखा।
सखा सामञ्ञता लोके, अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा ॥१३॥

शब्दार्थ—मत्तेय्यता = माता की सेवा। पेत्तेय्यता = पिता की सेवा। "मत्तेय्यताति मातरि सम्मापठिपत्ति, पेत्तेय्यताति पितरि सम्मापटिपत्ति"—बुद्धघोष। सामञ्ञता = सामान्यतया अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति समभाव। "सामञ्ञताति सब्बजीवेसु सम्मापटिपत्ति"—बुद्धघोष। "ब्रह्मञ्ञता = ब्राह्मणत्व।

अनुवाद—संसार में माता की सेवा और पिता की सेवा सुखकारी है। संसार में (सभी जीवों के प्रति) समभाव सुखकारी है, ब्राह्मण-भाव सुखकारी है।

विशेष—डा० पी० एल० वैद्य द्वारा किया अनुवाद भी ऐसा ही है—

"Good is reverence for mother and father and good too, is the reverence for recluses (Samanas) and Brahmans (Sages).

किन्तु मैक्सर्म्यूलर ने इसका दूसरा ही अर्थ किया है—

'Pleasant in the world is the state of a mother, pleasant is

the state of a father, pleasant the state of a Samana pleasant the state of a Brahmana."

३३३. सुखं याव जरा सीलं, सुखा सद्धा पतिट्ठिता ।
सुखो पञ्ञाय पटिलाभो, पापानं अकरणं सुखं ॥१४॥

अनुवाद—वृद्धावस्था तक शील का पालन सुखकर है, स्थिर हुई श्रद्धा सुखकारी है, प्रज्ञा का लाभ सुखकर है, पापों का न करना सुखकर है ।

---

२४. तण्हावग्गो चतुवीसतमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—कपिलमच्छ]

३३४. मनुजस्स पमत्तचारिनो, तण्हा वड्ढति मालुवा विय ।
सोप्लवति[1] हुरा हुरं फलमिच्छं[2] व वनस्मि वानरो ॥१॥

शब्दार्थ—हुरा हुरं = दिन-प्रतिदिन मैक्समूलर ने from life to life अर्थ किया है । सत्कारि शर्मा वङ्गीय का मत है कि 'इतस्ततः' यह अर्थ-सङ्गत होगा ।

अनुवाद—प्रमादयुक्त आचरण करने वाले मनुष्य की तृष्णा मालुवा लता के समान बढ़ती है । वह हमेशा ही वन फल की इच्छा करने वाले बन्दर के समान दौड़-धूप करता रहता है ।

३३५. यं एसा सहते[2] जम्मी, तण्हा लोके विसत्तिका ।
सोका तस्स पवड्ढन्ति अभिवड्ढं व[3] वीरणं ।२।

शब्दार्थ—यं = जिसको । सहते = अभिभूत कर लेती है (सं० साहयति) । जम्मी = जालिम (fierce) । वीरणं - एक प्रकार की सुगन्धित घास का नाम ।

अनुवाद—यह विषमयी जालिम तृष्णा संसार में जिसको अभिभूत कर लेती है उसके शोक (दुःख) अधिक बढ़ती हुई वीरण घास की तरह बढ़ते हैं ।

---

१. ब्र०—प्लवती, पू०—पलवति । २. स्या —सहती ।
३. ना०—अभिवट्ठं' व ।

३३६. यो चेतं सहते जम्मि, तण्हं लोके दुरच्चयं ।
सोका तम्हा पपतन्ति, उदबिन्दु' व पोक्खरा[1] ॥३॥

अनुवाद—और जो इस जालिम और दुस्त्याज्य तृष्णा को संसार में परास्त कर देता है उससे शोक उसी तरह गिर जाते हैं जैसे कमल से जल की बूँदे ।

३३७. तं वो वदामि भद्दं वो यावन्तेत्थ समागता ।
तण्हाय मूलं खणथ, उसीरत्थो' व बीरणं ।
मा वो नल' व सोतो व, मारो भञ्जि पुनप्पुनं ॥४॥

शब्दार्थ—त=इसलिए (सं० तत्) । वो=तुमने । यावन्तेत्थ=जितने यहाँ । उसीरत्थो व=उशीर (खस) को चाहने वाले की भाँति । सोतो=जल-प्रवाह । भञ्जि=तहस-नहस कर दे ।

अनुवाद—इसलिये तुमसे, जितने यहाँ आये हो, तुम्हारे कल्याण के लिये कहता हूँ । जिस प्रकार उशीर चाहने वाला वीरण (की जड़) को खोद डालता है उसी प्रकार तृष्णा की जड़ खोद डालो । मार तुम्हें उसी प्रकार तहस-नहस न कर दे जैसे जल प्रवाह बेंत को ।

[स्थान—वेणुवन,[2], व्यक्ति—गूथसूकरपोतिक]

३३८. यथापि मूले अनुपद्दवे दलहे, छिन्नोपि रुक्खो पुनरेव रुहति ।
एवं' पि तण्हानुसये अनूहते, निब्बत्तती[3] दुक्खमिदं पुनप्पुनं ॥५॥

शब्दार्थ—तण्हानुसये=तृष्णा और क्रोध (अनुशय)[4] । मैक्समूलर ने feeders of thirst (तृष्णा के सहायक) अर्थ किया है । अनूहते=नष्ट न किये जाने पर । निब्बत्तती=लौट आता है ।

अनुवाद—जिस प्रकार दृढ़ और स्थिर जड़ होने पर कटा हुआ वृक्ष फिर से उग आता है, उसी प्रकार तृष्णा और क्रोध नष्ट न किये जाने पर यह दुःख बार-बार लौट आता है ।

---

१. संस्कृत—पुष्करात् । २. ए० के० नारायण—जेतवन ।
३. स्या०—निब्बत्तति ।
४. 'अनुशय' का क्रोध के अर्थ में प्रयोग 'शिशुपालोऽनुशयं परं गतः"—
(माघ, १६।२)

विशेष—'तृष्णा च अनुशयश्च' इति तृष्णानुशयम्' तस्मिन् । समाहार द्वन्द्व समास है । सूत्र—"जातिरप्राणीनाम्," २।४।६

३३९. यस्स छत्तिसति सोता, मनापस्सवना[1] भुसा ।
बाहा[2] वहन्ति दुद्दिट्ठिं, सङ्कप्पा रागनिस्सिता ॥६॥

शब्दार्थ—छत्तिसति = छत्तीस । ज्ञान प्राप्ति के छत्तीस स्रोत हैं जिनमें छः आन्तरिक चक्खु, सोत्त, घान जिह्वा, काय और मन तथा छः बाह्य हैं—रूप, सद्द, गन्ध, रस, फोट्ठब्ब और धम्म । ये सभी काम, भव और विभव के भेद से ६ + ६ = १२ × ३ = ३६ होते हैं । मनापस्सवना = मन चाहे पदार्थों में प्रवृत्त होते हैं । "मनापेसु रूपादिसु अस्सवन्ति पवत्तन्ति"—बुद्धघोष । भुसा = अत्यन्त (सं० भृशम्) । बाहा = प्रवाह । रागनिस्सिता = राग से निकले हुये ।

अनुवाद—जिसके छत्तीसों स्रोत मन चाहे पदार्थों में अत्यन्त प्रवृत होते हैं, राग से निकले हुये संकल्प (उस) बुरी दृष्टि वाले को प्रवाह के समान बहा ले जाते हैं ।

३४०. सवन्ति सब्बधि सोता, लता उब्भिज्ज तिट्ठति ।
तं च दिस्वा लतं जातं, मूलं पञ्ञाय छिन्दथ ॥७॥

शब्दार्थ - सवन्ति = बहते हैं । सब्बधि = सभी ओर । उब्भिज्ज = फूटकर ।

अनुवाद (उपर्युक्त छत्तीसों), स्रोत सभी ओर बहते हैं (इस प्रकार इन स्रोतों की) लता फूट-फूटकर खड़ी हो जाती है । लताओं के उस जाल को देखकर प्रज्ञा से (उसकी) जड़ काट डालिये ।

३४१. सरितानि[3] सिनेहितानि च, सोमनस्सानि भवन्ति जन्तुनो ।
ते सातसिता[4] सुखेसिनो, ते वे जाति जरूपगा नरा ॥८॥

अनुवाद—(उपर्युक्त छत्तीसों नदियाँ स्निग्ध होती हैं और प्राणियों के

---

१. अ—मनापसवना । २. अ०— महा । ३. डा० पी० एल० वैद्य इसका संस्कृत रूप 'स्मृतानि' (memories) बताते हैं, मैक्सम्यूलर ने Pleasures अर्थ किया है । पूर्वगाथा के प्रसङ्ग में देखने पर इसका अर्थ '३६ स्रोत' भी सम्भव है । ४. स्रोतः सृताः (सं०) ।

चित्त को प्रसन्न करने वाली होती है। जो (इन) नदियों के प्रवाह में पड़े हुये सुख की खोज करने वाले हैं वे मनुष्य जन्म और जरा को प्राप्त होते हैं।

३४२. तसिणाय पुरक्खता पजा, परिसप्पन्ति ससो व बन्धितो।
सञ्ञोजनसङ्गसत्तका[1], दुक्खमुपेन्ति पुनप्पुनं चिराय ॥९॥

अनुवाद—तृष्णा को आगे कर चलने वाले लोग बंधे हुये खरगोश की तरह इधर-उधर दौड़ते है। बन्धनों में फंसे हुये (लोग) बार-बार चिरकाल तक दुःख को प्राप्त होते हैं।

३४३. तसिणाय पुरक्खता पजा, परिसप्पन्ति ससो व बन्धितो।
तस्मा तसिणं विनोदये[2], आकङ्खी[3] विरागमत्तनो ॥१०॥

अनुवाद—तृष्णा को आगे कर चलने वाले बंधे हुये खरगोश की तरह इधर-उधर दौड़ते हैं। इसलिये अपने वैराग्य की आकांक्षा करने वाला तृष्णा को दूर करे।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—विभन्तक भिक्खु]

३४४. यो निब्बनथो वनाधिमुत्तो, वनमुत्तो वनमेव धावति।
तं पुग्गलमेव पस्सथ, मुत्तो बन्धनमेव धावति ॥११॥

शब्दार्थ—निब्बनथो = (सं० निर्वनतः) वासनाओं के वन से। वनाधिमुत्तो वने + अधिमुक्तः। तं पुग्गलमेव = उस पुद्गल को ही। यह गाथा एक भिक्षु को लक्ष्य करके कही गयी है जो गृहमुक्त होकर भी पुनः गृहस्थ हो गया था। अतः उस भिक्षु का नाम ही 'पुग्गल' रहा होगा, ऐसी पूरी सम्भावना है। वैसे अभिधानप्पदीपिका में "पाणो सरीरि भूतं वा सत्तो देही च पुग्गलो, जीवो वाणि पजा जन्तु जनो लोको तथागतो" कहा गया है। इसी आधार पर मैक्स-म्यूलर आदि विद्वानों ने 'पुग्गल' का अनुवाद 'मनुष्य' किया है।

---

१. ना०—सयो नसङ्गसत्तका।
२. सिं० पाठ में 'भिक्खू' पाठ अधिक है जिसे श्री ए० के० नारायण ने भी स्वीकार किया है।
३. ब्र०, ना०—आकखन्तं, स्या० आकङ्ख।

अनुवाद—जो वन में (वासनाओं के) वन से छूट जाता है (फिर वह वन-मुक्त वन की ही ओर दौड़ता है। उस पुद्गल को देखो, (जो) मुक्त होकर फिर बन्धन की ही ओर दौड़ रहा है।

[स्थान—जेतवन, विषय—बन्धनागार]

३४५. न तं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा, ययदासं दारुजं बब्बजं[1] च।
सारत्तरत्ता मणिकुण्डलेसु, पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा ॥१२॥

शब्दार्थ—बब्बजं—पर्व=सन अर्थात् सन की बटी हुयी रस्सी का। सारत्तरत्ता=सारत्त (सारवद्)—वास्तव में, रक्षा—बन्धन (सं० रक्ता)।

अनुवाद—धैर्यशाली उस बन्धन को दृढ़ नहीं कहते जो लोहे का बना हो, लकड़ी का बना हो अथवा रस्सी का बना हो। वास्तव में बन्धन तो मणि में, कुण्डलों में, पुत्रों में अथवा स्त्रियों में अपेक्षा (आसक्ति) ही है।

३४६. एतं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा, ओहारिनं[2] सिथिलं दुप्पमुञ्चं।
एतं पि छेत्वान परिब्बजन्ति, अनपेक्खिनो कामसुखं पहाय ॥१३॥

अनुवाद—नीचे खींचने वाले, शिथिल और कठिनाई से छूटने योग्य इस बन्धन को धैर्यशाली दृढ़ (बन्धन) कहते हैं। निरपेक्ष (निस्पृह) इसे भी काट-कर, कामसुख को छोड़कर प्रव्रजित होते हैं।

[स्थान—राजगह (वेणुवन), व्यक्ति—खेमा (बिम्बसारस्स अग्गमहेसी]

३४७. ये रागरत्तानुपतन्ति सोतं, सयंकतं मक्कटको' व जालं।
एतं पि छेत्वान वजन्ति धीरा, अनपेक्खिनो सब्बदुक्खं पहाय ॥१४॥

शब्दार्थ—सयंकटं=अपने ही बनाये हुये (सं० स्वयं कृतम्)। मक्कटको' व=मकड़ी की तरह (सं० मर्कटक इव)।

अनुवाद—जो राग में अनुरक्त हैं (वे) स्रोत (तृष्णा के प्रवाह) में गिर पड़ते हैं जैसे अपने ही बनाये जाल में मकड़ी। निरपेक्ष और धैर्यशाली इसे भी काट-कर सब दुःखों को छोड़कर चल देते हैं।

---

१. ब्र० दारुजपब्बजञ्च। २. अवहारिणं (संस्कृत)।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—उग्गसेन सेट्ठि[1]]

३४८. मुञ्च पुरे मुञ्च पच्छतो, मज्झे मुञ्च भवस्स पारगू।
सब्बत्थ विमुत्तमानसो, न पुनं जातिजरं उपहेसि ॥१५॥

अनुवाद—पहले (भूत) को छोड़ दो, पीछे (भविष्य) को छोड़ दो, मध्य (वर्तमान) को छोड़ दो, भव (संसार) से पार हो जाओ। सभी जगह विमुक्त-चित्त वाले तुम फिर जन्म और जरा को प्राप्त न होगे।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—चुल्ल धनुग्गह पण्डित[1]]

३४९. वितक्कमथितस्स[2] जन्तुनो, तिब्बरागस्य सभानुपास्सिनो।
भिय्यो तण्हा पवड्ढति, एस खो दलूहं करोति बन्धन ॥१६॥

अनुवाद—वितर्क (सन्देह) से प्रमथित (झकझोड़ हुये) तीव्र (उत्कट) राग वाले (और) सुन्दर ही सुन्दर देखने वाले प्राणी की तृष्णा और भी बढ़ती है। ऐसा व्यक्ति (अपने) बन्धन को निश्चय ही दृढ़ बनाता है।

३५०. वितक्कूपसमे च यो रतो, असुस भावयते[3] सदा सतो।
एस खो व्यन्ति[4], काहिति, एस[5] छेच्छति मारबन्धनं ॥१७॥

शब्दार्थ—व्यन्ति = नष्ट। काहिति = करेगा (सं० करिष्यति)। छेच्छति = काटेगा (सं० छेत्स्यति)।

अनुवाद—और जो वितर्क (संशय) के उपक्रमक में रहते हैं (तथा) सदा स्मृतिवान् (सचेत) रहकर अशुभ (संसार) की भावना (शुभाशुभ का निश्चय) करता है, वह मार के बन्धन को काटेगा और नष्ट कर देगा।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—मार]

३५१. निट्ठङ्गतो असन्तासी, वीततण्हो अनङ्गणो।
अच्छिन्दि भवसल्लानि, अन्तिमोयं समुस्सयो ॥१८॥

शब्दार्थ—निट्ठङ्गतो = निष्ठा को प्राप्ता, असन्तासी = भय-रहित (सं० असन्त्रासी)। अच्छिन्दि = काट दिया।

---

१. स०—दहरभिक्खु। २. चौ०, सा०—वितक्कपमथितस्स।
३. सा०—भावयति। ४. स्या०—व्यन्तिकाहति, सा०—व्यन्तिकाहिती।
५. सा०—एसच्छेच्छति।

अनुवाद—जो निष्ठा को प्राप्त, भय-रहित, तृष्णाशून्य (और) निरञ्जन (है उसने) संसार के शल्यों को काट दिया, यह (उसका) अन्तिम शरीर है।

३५२. वीततण्हो अनादानो, निरुत्तिपदकोविदो।

अक्खरानं सन्निपातं, जञ्ञा पुब्बापरानि च।

स वे अन्तिमसारीरो, महापञ्ञो महापुरिसो पि वुच्चति ॥१९॥

शब्दार्थ—अनादानो=परिग्रहरहित। निरुत्तिपदकोविदो=निर्वचन और पद (भाषा) का पण्डित। ए० के० नारायण ने 'भाषा और काव्य का जानकर कनछेदीलाल गुप्त ने 'पदों की निरुक्ति करने में चतुर' और मैक्सम्यूलर ने Who understand the words and their interpretation' अर्थ किया है। जञ्ञा =जानता है।

अनुवाद—(जो) तृष्णा से शून्य, परिगृह रहित, (शब्दों के) निर्वचन (और) भाषा का पण्डित है तथा अक्षरों के पौर्वा र्य सन्निपात को जानता है वह निश्चय ही अन्तिम शरीर वाला, महाप्राज्ञ और महापुरुष कहा जाता है।

[स्थान—अन्तरामग्ग[1], व्यक्ति—उपक आजीविक]

३५३. सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि, सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो।

सब्बञ्जहो तण्हक्खये विमुत्तो, सयं अभिञ्ञाय समुद्दिसेय्यं ॥२०॥

शब्दार्थ—सब्बविदूहमस्मि=सर्वविद्+अहम्+अस्मि। अनूपलित्तो= अनुपलिप्त। सब्बञ्जहो=सबको त्यागने वाला। सयं=स्वयं। कमुद्दिसेय्यं= किसे (अपने बारे में) बताऊ? ए० के० नारायण ने 'किसको (अपना गुरु) बताऊं? और मैक्सम्यूलर ने 'Who shall I teach?' अनुवाद किया है।

अनुवाद—(मैं) सबको अभिभूत करने वाला, सब कुछ जानने वाला, सभी धर्मों में अनुपलिप्त, सर्वस्व त्यागने वाला (और) तृष्णा के क्षय हो जाने पर विमुक्त हूँ—(ऐसा) स्वयं को जानकर किसे (अपने उक्त गुणों के बारे में) बताऊं?

---

१. वाराणसी से गया के मध्य का मार्ग।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सक्कदेवराज]

३५४. सब्बदानं धम्मदानं जिनाति, सब्बरसं[1] धम्मरसो जिनाति।
सब्बरतिं धम्मरति[2] जिनाति, तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति ॥२१॥

अनुवाद—धर्म का दान सब दानों को जीत लेता है। धर्म का रस सब रसों को जीत लेता है। धर्म की अनुरक्ति सभी रागों को जीत लेती है। तृष्णा का क्षय सब दुःखों को जीत लेता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अपुत्तक सेट्ठी]

३५५. हनन्ति भोगा दुम्मेधं नो चे पारगवेसिनो।
भोगतण्हाय दुम्मेधो, हन्ति अञ्ञेव अत्तनं ॥२२॥

शब्दार्थ—अञ्ञेव दूसरे की तरह (सं० अन्यमिव)।

अनुवाद—यदि संसार से पार जाने की इच्छा नहीं करता तो (उस) दुर्बुद्धि को भोग नष्ट कर देते हैं। भोगों की तृष्णा से दुर्बुद्धि अपने को दूसरे की तरह मार लेता है।

[स्थान—पण्डुकम्बलसिला (देवलोक), व्यक्ति—अंकुर]

३५६. तिणदोसानि खेत्तानि, रागदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतरागेसु, दिन्नं होति महप्फलं ॥२३॥

अनुवाद—खेतों का दोष तृण (घास) है इस प्रजा का दोष राग है। इसलिये वीतराग (भिक्षुओं) को दिया हुआ दान महान फल वाला होता है।

३५७. तिणदोसानि खेत्तानि, दोसदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतदोसेसु, दिन्नं होति महप्फलं ॥२४॥

अनुवाद—खेतों का दोष घास है, इस प्रजा का दोष द्वेष है। इसलिये द्वेष रहित (भिक्षुओं) को दिया हुआ दान महान् फल वाला होता है।

३५८. तिणदोसानि खेत्तानि मोहदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतमोहेसु, दिन्नं होति महप्फलं ॥२५॥

---

१. सि०—सब्बं रसं। २. सि०—धम्मरती।

अनुवाद—खेतों का दोष घास है, इस प्रजा का दोष मोह है। इसलिये मोह रहित (भिक्षुओं) को दिया हुआ दान महान् फल वाला होता है।

३५९. तिणदोसानि खेत्तानि, इच्छादो अयं पजा।
तस्मा हि विगतिच्छेसु, दिन्नं होति महप्फलं ॥२६॥

अनुवाद—खेतों का दोष घास है इस प्रजा का दोष इच्छा है। इसलिये इच्छा-रहित (निराकांक्षा भिक्षुओं) को दिया हुआ दान महान् फल वाला होता है।

विशेष—उपर्युक्त चार गाथाओं में दान के पात्र-अपात्र का स्थूल विवेचन किया गया है। राग, द्वेष, मोह और इच्छा—इन चार दोषों से युक्त व्यक्ति (अथवा भिक्षु) को दान देने से अत्यल्प या बिल्कुल भी नहीं फल मिलता है। नालन्दा संस्करण में इस गाथा के अनन्तर निम्नोद्धृत गाथा दी गयी है जिस पर आगे की संख्या (३६०) नहीं दी गयी—

"तिणदोसानि खेत्तानि, तण्हादोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीततण्हेसु, दिन्नं होति महप्फलं ॥"

किन्तु यह गाथा किसी अन्य संस्करण में उपलब्ध नहीं है। नालन्दा संस्करण में भी "अयं गाथा अट्ठकथायं न दिस्सति" यह टिप्पणी दी गयी है। मैक्सम्यूलर ने भी इसका कोई अनुवाद नहीं किया, अतः ज्ञात होता है कि उनके सामने भी गाथा यह न रही होगी।

---

२५. भिक्खुवग्गो पंचवीसतिमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्च भिक्खु]

३६०. चक्खुना संवरो साधु, साधु सोतेन संवरो।
घानेन[1] संवरो साधु, साधु जिव्हाय संवरो ॥१॥

अनुवाद—नेत्र के द्वारा संयम अच्छा है। कानों के द्वारा संयम ठीक है। नाक के द्वारा संयम साधु है। जीभ के द्वारा संयम उत्तम है।

---

१. सा०—घाणेन।

३६१. कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो ।
मनसा संवरो साधु, साधु, सब्बत्थ संवरो ॥२॥

अनुवाद—शरीर के द्वारा संयम (करना) अच्छा है । वाणी के द्वारा संयम अच्छा है । मन के द्वारा संयम (करना) उत्तम है । सभी जगह संयम (करना) अच्छा होता है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—हंसघातक]

३६२. हत्थसंयतो[1] वाचाय संयतो संयतुत्तमो ।
अज्झत्तरतो समाहितो एको, सन्तुसितो तमाहु भिक्खु ॥३॥

शब्दार्थ—हत्थसंयतो = हाथों से संयत । संयतुत्तमो = भाँति-भाँति संयत । अज्झत्तरतो = अध्यात्म रत । सन्तुसितो = सन्तुष्ट ।

अनुवाद—(जो) हाथों से संयत, पैरों से संयत, वाणी से संयत—भली-भाँति संयत है (और) अध्यात्म में अनुरक्त एकाग्र, एकांगी (एवं) सन्तुष्ट (है) उसे भिक्षु कहा जाता है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—कोकालिक]

३६३. यो मुखसंयतो भिक्खु, मन्तभाणी अनुद्धतो ।
अत्थं धम्मं च दीपेति, मधुरं तस्स भासितं ॥४॥

शब्दार्थ—मन्तभाणी = मनन करके बोलने वाला । बुद्धघोष ने 'प्रज्ञा के साथ बोलने वाला' (मन्तभाणीति मन्ता वुच्चति पञ्ञा, ताय मणनसीलो) अर्थ किया है । मैक्सम्यूलर भी 'Who speaks wisely' अनुवाद करते हैं ।

अनुवाद—जो भिक्षु मुख से संयत है, मनन करके बोलने वाला है, अनुद्धत है, धर्म और अर्थ को प्रकट करता है, उसका भाषण मधुर होता है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—धम्माराम थेर]

३६४. धम्मारामो धम्मरतो, धम्मं अनुविचिन्तयं ।
धम्मं अनुस्सरं भिक्खु, सद्धम्मा न परिहायति ॥५॥

अनुवाद—धर्म में रमण करने वाला, धर्म में रत भिक्षु धर्म का चिन्तन (तथा) धर्म का अनुसरण करता हुआ सद्धर्म से च्युत नहीं होता ।

१. सि०—सञ्ञतो ।

[स्थान – वेणुवन, व्यक्ति—विपक्ख सेवक]

३६५. सलाभं नातिमञ्ञेय्य, नाञ्ञेसं पिहय चरे।
अञ्ञे स पिहयं भिक्खु, समाधिं नाधिगच्छति ॥६॥

शब्दार्थ—सलाभं = अपना लाभ। न अञ्ञेसं = दूसरों के साथ (सं० न न्येभ्यः)। पिहयं = स्पृहा करता हुआ।

अनुवाद—अपने लाभ की अवहेलना न करे। दूसरों से स्पृहा (ईर्ष्या) करता हुआ विचरण न करे। दूसरों से स्पृहा करता हुआ भिक्षु समाधि को प्राप्त नहीं होता।

३६६. अप्पलाभो' पि चे भिक्खु सलाभं नातिमञ्ञति।
तं वे देवा पसंसन्ति, सुद्धाजीविं अतन्दितं ॥७॥

अनुवाद—यदि थोड़ा लाभ भी हो तो (भी) भिक्षु अपने लाभ की अवहेलना नहीं करता। शुद्ध जीवन वाले, निरालम्ब उस (भिक्षु) की देवता प्रशंसा करते हैं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्चग्गदायक ब्राह्मण[1]]

३६७. सब्बसो नामरूपस्मिं, यस्स नत्थि ममायितं।
असता च न सोचति, स वे भिक्खू' ति वुच्चति ॥८॥

शब्दार्थ—ममायितं = ममता। असता = न होने पर (सं० असति)।

अनुवाद—नाम और रूप (अर्थात् संसार) में जिसकी ममता नहीं है और जो (किसी वस्तु के) न होने पर शोक नहीं करता, वह निश्चय भिक्षु कहा जाता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सम्बहुलभिक्खु]

३६८. मेत्ताविहारी यो भिक्खु पसन्नो बुद्धसासने।
अधिगच्छे पदं सन्तं, संखारूपसमं सुखं ॥९॥

शब्दार्थ—मेत्ताविहारी = मित्रतापूर्वक विहार करने वाला (सं० मैत्रीविहारी[2])। सन्तं = शान्त। संखारूपसमं = संस्कारों को शमन करने वाले।

---

१. ए० के० नारायण ने व्यक्ति बहुत से भिक्षु लिखा है।

२. बौद्ध धर्म में चार प्रकार के 'ब्रह्म विहार' बताये गये हैं—मेत्ताविहार, करुणा विहार, मुदित विहार और उपेक्खा विहार।

अनुवाद—जो भिक्षु मित्रतापूर्वक विहार करने वाला और बुद्ध के शासन में प्रसन्न रहने वाला है वह संस्कारों को शमन करने वाले शान्त और सुखद पद को प्राप्त करता है।

३६९. सिञ्च भिक्खु ! इमं नावं, सित्ता ते लहुमेस्सति ।
छेत्वा रागञ्च दोसञ्च, ततो निब्बानमेहिसि ॥१०॥

शब्दार्थ—सिञ्च=सिचो अर्थात् खाली कर दो। सित्ता=खाली हो जाने पर। लहुमेस्सति=हल्की हो जायेगी (सं० लघुत्वमेष्यति)।

अनुवाद—हे भिक्षु ! इस (शरीर रूपी) नाव को खाली कर दो (अर्थात् गन्दगियों को दूर कर दो) खाली होने पर तुम्हारे लिये हल्की हो जायेगी। तब राग और द्वेष को काटकर निर्वाण को प्राप्त होगे।

३७०. पञ्च छिन्दे पञ्च जहे, पञ्च चुत्तरि भावये ।
पञ्चसङ्गातिगो भिक्खु, ओघतिण्णो' ति वुच्चति ॥११॥

शब्दार्थ-पञ्च छिन्दे=(प्रथम) पाँच संयोजनों—सक्कायदिट्ठि, विचिकिच्छा, सीलब्बतपरामासो, कामरागो, पटिघो) को काट दे। पञ्च जहे=(दूसरे) पाँच (संयोजनो[1]—रूपराग अरूपराग, मान, उद्धच्च अविज्जा) को छोड़ दे। पञ्च चुत्तरि भावये=बाद में पाँच (इन्द्रियों—सद्धा, सती, विरिय, समाधि, पञ्जा) की भावना करे। पञ्चसङ्गातिगो=पाँच (नीवरणों—रूप, वेदना, सञ्ञा, संखार, विञ्ञाण) के सम्पर्क से पृथक् रहने वाला। ओघतिण्णो=ओघ (काम, भव, दिट्ठ और अविज्जा रूपी नदियों की बाढ़) को पार करने वाला।

अनुवाद—पाँच को काट दे, पाँच को छोड़ दे, बाद में पाँच की भावना करे। पाँच के सम्पर्क से पृथक् रहने वाला भिक्षु ओघतीर्ण कहा जाता है।

३७१. झाय भिक्खु मा[2] परमादो, मा ते कामगुणे रमेस्सु[3] चित्तं।
मा लोहगुलं गिली पमत्तो, मा कन्दि दुक्खमिदं, ति डय्हमानो[4] ॥१२॥

---

१. इन्हें 'उद्धं भागियानि संयोजनानि' कहते हैं।
२. सि०—मा च पमादो। ३. सि०—भमस्सु। ४. चौ०—दय्हमानो

शब्दार्थ—रमेस्सु = रमण करे (सं० रमतु) । लोहगुलं = लोहे के गोले को । गिलो = निगलो (सं० गिल) । कन्दि = क्रन्दन करो (सं० क्रन्दो) ।

अनुवाद— हे भिक्षु ! ध्यान करो, प्रमाद नहीं । तुम्हारा चित्त कामगुण में रमण न करे । प्रमत्त (होकर) लोहे का गोला मत निगलो । (संसार की अग्नि में) जलते हुए 'यह दु:ख है' इस प्रकार क्रन्दन मत करो ।

विशेष—प्राचीन काल में 'लोहे का सन्तप्त गोला' निगलवाना एक भयंकर दण्ड था । सत्य की परीक्षा में भी यह प्रयोग में लाया जाता था । धर्मशास्त्रीय विधान के अनुसार दुष्कर्म करने वाला या दुराचारी, असंयत व्यक्ति जो राष्ट्र का अन्न खाता है, उसे नरक में लोहे का तपा हुआ गोला निगलना पड़ता है, देखिये गाथा ३०८ ।

३७२. नत्थि झानं अपञ्ञस्स, पञ्ञा नत्थि अज्झायतो ।
यम्हि झानञ्च पञ्ञा च, स वे निब्बानसन्तिके ॥१३॥

अनुवाद—प्रज्ञाविहीन का ध्यान नहीं होता । ध्यान न करने वाले की प्रज्ञा नहीं होती जिसमें ध्यान और प्रज्ञा है वह निश्चय ही निर्वाण के समीप है ।

३७३. सुञ्ञागारं पविट्ठस्स सन्तचित्तस्स भिक्खुनो ।
अमानुसी रती होति, सम्मा धम्मं विपस्सतो ॥१४॥

अनुवाद—शून्यागार (एकान्तवास) में प्रविष्ट शान्तचित्त (एवं) सम्यक् धर्म को देखते हुए भिक्षु की रति (आनन्द) अमानवीय (लोकोत्तर) होती है ।

३७४ यतो यतो सम्मसति, खन्धानं उदयब्बयं ।
लभति पीतिपामोज्जं, अमतं तं विजानतं ॥१५॥

शब्दार्थ—सम्मसति = विचार करता है (सं० सम्मृशति) । पीतीपामोज्जं = प्रीति और प्रमोद । विजानतं = ज्ञानियों के ।

अनुवाद—(मनुष्य) जैसे-जैसे संस्कारों की उत्पत्ति और विनाश पर विचार करता है, वैसे-वैसे (वह) ज्ञानियों की प्रीति और प्रमाद से युक्त अमृतमय आनन्द को प्राप्त करता है ।

३७५. तत्रायमादि भवति, इध पञ्ञस्स भिक्खुनो।
इन्द्रियगुत्ति सन्तुट्ठि, पातिमोक्खे च संवरो ॥१६॥

अनुवाद—यहाँ इस धर्म में प्राज्ञ भिक्षु का आरम्भ होता है—इन्द्रियों की रक्षा (संयम) सन्तुष्टि और प्रतिमोक्ष (नियमों) में संयम।

३७६. मित्ते भजस्सु कल्याणे, सुद्धाजीवे अतन्दिते।[1]
पटिसंथारवुत्तस्स, आचारकुसलो सिया।
ततो पामोज्जबहुलो, दुक्खस्सन्तं करिस्सति ॥१७॥

शब्दार्थ—पटिसंथारवुत्तस्स = (पटिसंथारवुत्ति + अस्स) सेवा-सत्कार की वृत्ति वाला हो (सं० प्रतिसंस्तारवृत्तः स्यात्) मैक्सम्यूलर ने 'Let him live in charity' अनुवाद किया है। श्री बट्ठकनाथ शर्मा ने 'पटिसन्थारो' का पर्याय 'आलपः, सम्भाषणम्' दिया है[2]।

अनुवाद—शुद्ध जीवन वाले, आलस्य-विहीन और कल्याण करने वाले, मित्रों की संङ्गति कर। सेवा-सत्कार की वृत्ति वाला हो आचार में कुशल बन, बहुत आनन्द वाला होकर दुःख का नाश कर देगा।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पञ्चसतभिक्खु]

३७७. वस्सिका विय पुप्फानि, मद्दवानि पमुञ्चति।
एवं रागञ्च दोसञ्च, विप्पमुञ्चेथ भिक्खवो ॥१८॥

शब्दार्थ—वस्सिका = जूही (सं० वर्षिका)। मद्दवानि = कुम्हिलाये हुये (सं० मार्दवानि)।

अनुवाद—जिस प्रकार जूही कुम्हिलाये हुए फूलों को गिरा देती है, वैसे ही हे भिक्षुओं! राग और द्वेष को छोड़ दो।

---

१. गाथा की इस पूरी पंक्ति को फजबोल और मैक्सम्यूलर ने ३६५ वीं गाथा के साथ जोड़ दिया है। ए० के० नारायण और सी० एल० वैद्य ने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। पर, सत्कारि शर्मा वंगीय के मतानुसार यह पाठक्रम सिंहल और ब्रह्मदेशीय परम्परा के विरुद्ध है।

२. पालिजातकावली, पृ० १७४।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सन्तकाय थेर]

३७८. सन्तकायो सन्तवाचो, सन्तवा[1] सुसमहितो ।
वन्तलोकामिसो भिक्खु, उपसन्तो' ति वुच्चति ॥१९॥

शब्दार्थ— सन्तवा = शान्तिवान् । वन्तलोकामिसो = लोक (संसार) की भोग्य वस्तुओं को त्याग देने वाला । 'अमिषं भोग्यवस्तूनि' इति केशवः ।

अनुवाद— शान्त शरीर वाला शान्त वाणी वाला शान्तिवान्, भली-भाँति एकाग्र और संसार की भोग्य वस्तुओं को त्याग देने वाला भिक्षु 'उपशान्त' कहा जाता है ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—नङ्गलकुल थेर[2]]

३७९. अत्तना चोदयत्तानं, पटिवासे[3] अत्तमत्तना ।
सो अत्तगुत्तो सतिमा, सुक्खं भिक्खु विहाहिसी ॥२०॥

शब्दार्थ— चोदयतानं = अपने को प्रेरित करे । पटिवासे = संलग्न करे (सं० प्रतिवसेत्) । "अत्तना व अत्तानं परिवीमसे"—अश्वघोष । E·amine thyself by thyself'—मैक्सम्यूलर । विहाहिसी = विहरोगे ।

अनुवाद— अपने द्वारा अपने को प्रेरित करे । अपने द्वारा अपने को संलग्न करे । वह अपने द्वारा सुरक्षित, स्मृतिमान् भिक्षु ! सुखपूर्वक विहारोगे ।

३८०. अत्ता हि अत्तनो नाथो, अत्ता हि अत्तनो मति ।
तस्मा सयमयत्तानं, अस्सं भद्रं' व वाणिजो ॥२१॥

अनुवाद—(मनुष्य) अपना स्वामी आप है, स्वयं ही अपनी शरण है । इस लिये अपने को सयत रखे जैसे व्यापारी अपने उत्तम घोड़े को (संयत रखता है)

विशेष—यही भाव प्रकारान्तर से गाथा १६० में भी ध्वनित होता है ।

[स्थान—जेतवन[4], व्यक्ति—वक्कलि थेर]

३८१. पामाज्जबहुली भिक्खु, पसन्नो बुद्धसासने ।
अधिगच्छे पदं सन्तं संखारूपसमं सुखं ॥२२॥

अनुवाद—बहुत प्रमोद को पाने वाला (और) बुद्ध में शासन में प्रसन्न रहने वाला भिक्खु संस्कारों को उपशमन करने वाले, सुखकर, शान्त पद को प्राप्त होता है ।

---

१. ब्र० स्य—सन्तमानो । २. सा०—लङ्गूल थेर । ३. ब्र—पठिमसथे अत्तना । ४. ब्र०—वेणुवन । ए० के० नारायण—राजगृह (वेणुवन) ।

[स्थान—पुब्बाराम (सावत्थी), व्यक्ति—सुमन सामणेर]

३८२. यो हवे दहरो भिक्खु, युञ्जति बुद्धसासने।
सो इमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तोव चन्दिमा ॥२३॥

शब्दार्थ—दहरो=युवा 'दहरो च युवा सुसु' इत्यभिधानप्पदीपिका।

अनुवाद—जो युवा भिक्षु भी बुद्ध के शासन में (अपने) को लगा देता है वह इस संसार को बादलों से मुक्त हुए चन्द्रमा के समान प्रकाशित करता है।

---

२६. ब्राह्मणवग्गो छब्बीसतिमो

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पसादबहुल ब्राह्मण।]

३८३. छिन्द सोतं परक्कम्म, कामे पनुद ब्राह्मण।
संखारानं खयं ञत्वा, अकतञ्ञू' सि ब्राह्मण ॥१॥

शब्दार्थ—पनुद=भगा दो। अकतञ्ञू, सि=अकृत (निर्वाण) को जानने वाले हो।

अनुवाद—हे ब्राह्मण! पराक्रम करके (तृष्णा) के स्रोत को छिन्न-भिन्न कर दो, कामों को भगा दो। संस्कारों के क्षय को जानकर हे ब्राह्मण! (तुम) निर्वाण को जानने वाले हो।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सम्बहुलभिक्खु]

३८४. यदा द्वयेसु धम्मेसु, पारगू होति ब्राह्मणो।
अथस्स सब्बे संयोगा, अत्थं गच्छन्ति जानतो ॥२॥

अनुवाद—जब ब्राह्मण दोनों धर्मों (समथ और विपस्सना) में पारङ्गत हो जाता है तब (इस) ज्ञानी के सभी संयोजन बन्धन नष्ट हो जाते हैं।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—मार]

३८५. यस्स पारं अपारं वा पारापारं न विज्जति।
वीतद्दरं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३॥

शब्दार्थ—पारं=भीतर के ६ आयतन (आंख, कान, नाक, जीभ, काया, मन)। अपारं=बाहर के ६ आयतन (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श, धर्म)। पारापारं=मैं और मेरा। "पारं' ति अज्झत्तिकानि ६ आयतनानि, अपारं" ति

बहिरानि ६ आयतननानि, तदुभयं न विज्जतीति सब्बं पेतं' अहं' ति ममं' ति वा गहणभावेन-नत्थि" बुद्धघोष।

अनुवाद—जिसके लिये पार, अपार (तथा) पारापार नहीं है, उस निडर, अनासक्त को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतर ब्राह्मण]

३८६. झायिं विरजमासीनं, कतकिच्चमनासवं।
उत्तमत्थमनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ॥४॥

शब्दार्थ—विरजं = रज (मल) रहित। आसीनं = स्थिर। कतकिच्च = कृतकृत्य। उत्तमत्थमनुप्पत्तं = उत्तम अर्थ (सत्य) को प्राप्त हुआ।

अनुवाद—ध्यानी; मलरहित, स्थिर, कृतकृत्य, चित्त के मलों से शून्य उत्तम अर्थ (सत्य) को प्राप्त हुए उस (व्यक्ति) को मैं ब्राह्मण कहता हूं।

[स्थान—मिगार मातु पासाद[1], व्यक्ति—आनन्द थेर]

३८७. दिवा तपति आदिच्चो, रत्तिमाभाति चन्दिमा।
सन्नद्धो खत्तियो तपति, झायी तपति ब्राह्मणो।
अथ सब्बमहोरत्तिं, बुद्धो तपति तेजसा ॥५॥

शब्दार्थ—सब्बमहोरत्तिं = रात-दिन, हमेशा। बुद्धो तपति तेजसा = बुद्ध अपने (पञ्चविधि) तेज से तपता है। "सम्मासम्बुद्धो पन चरण तेजेन दुस्सील-तेजं, गुणतेजेन निग्गुणतेजं, पञ्ञातेजेन दुप्पञ्ञातेजं, पुञ्ञतेजेन, अपुञ्ञतेजं, धम्मतेजेन अधम्मतेजं परिदयित्वा इमिना पञ्चविधेन तेजेन निच्चकालमेव विरोचति"—बुद्धघोष।

अनुवाद—सूर्य दिन में तपता है, चन्द्रमा रात्रि में प्रकाशित होता है, सन्नद्ध (कवचबद्ध) क्षत्रिय तपता है, ध्यानी ब्राह्मण तपता है। इन सबसे बढ़ कर रात-दिन हमेशा बुद्ध (अपने पञ्चविध) तेज से तपता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतर ब्राह्मण[2]]

३८८. बाहितपापोति ब्राह्मणो, समचरिया समणोति वुच्चति।
पब्बाजयमत्तनो मलं, तस्मा पब्बजितोति वुच्चति ॥६॥

---

१. ए० के० नारायण—'श्रावस्ती (पूर्वाराम)' लिखते हैं।

२. ए० नारायण—'कोई प्रव्रजित' ऐसा लिखते हैं।

शब्दार्थ—समचरिया=समता का आचरण करने वाला (सं० समचर्यः)। पब्बाजयमत्तनो मल=अपने मैल को हटाता हुआ।

अनुवाद—(जिसने) पाप बहा दिये हैं इसलिये वह ब्राह्मण है। समता का आचरण करने वाला 'श्रमण' कहा जाता है। अपने मैलों को हटाता है, इसलिये 'प्रव्रजित' कहा जाता है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सारिपुत्त थेर]

३८९. न ब्राह्मणस्स पहरेय्य, नास्स मुञ्चेथ ब्राह्मणो।
धी ब्राह्मणस्स हन्तारं, ततो धी यस्स मुञ्चति ॥७॥

शब्दार्थ—पहरेय्य=प्रहार करे (सं० प्रहरेत्)। मुञ्चेथ=टूट पड़े (Should let himself fly—मैक्समूलर)। धी=धिक्कार है। यस्स=उस पर (सं० यस्मै)।

अनुवाद—ब्राह्मण पर प्रहार न करे, ब्राह्मण इस (प्रहारकर्ता) पर न टूट पड़े। ब्राह्मण के मारने वाले को धिक्कार है, तब उसके लिये धिक्कार है जो उस पर (मारने वाले पर) टूट पड़ता है।

३९०. न ब्राह्मणस्सेतदकिञ्चि सेय्यो,
यदा निसेधो मनसो पियेहि।
यतो यतो हिंसमनो निवत्तति,
ततो ततो सम्मतिमेव दुक्खं ॥८॥

शब्दार्थ—ब्राह्मणस्सेतदकिञ्चि सेय्यो=ब्राह्मण के लिये कर्म श्रेयस्कर। पियेहि=प्रिय वस्तुओं से। हिंसमनो=हिंसक मन। सम्मतिमेव=शान्त होता ही है।

अनुवाद—ब्राह्मण के लिये (यह) कर्म श्रेयस्कर नहीं है जो कि वह प्रिय पदार्थों से मन को निषेध कर देता है। जैसे-जैसे हिंसक मन निवृत होता है, वैसे-वैसे मन दुःख शान्त होता ही है।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—महापजापति गोतमी[1]]

३९१. यस्स कायेन वाचाय, मनसा नत्थि दुक्कतं[2]।
संवृतं तीहि ठानेहि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥९॥

---

१. सा०—गोमती २. ना०—दुक्कटं।

अनुवाद—जिसके शरीर, वाणी, मन से दुष्कृत (पाप) नहीं होते (और जो इन्हीं) तीन स्थानों से संयत है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सारिपुत्त थेर]

३९२. यम्हा धम्मं विजानेय्य, सम्मासम्बुद्धदेसितं।
सक्कच्चं तं नमस्सेय्य, 'अग्गिहुत्तं' व ब्राह्मणो ॥१०॥

शब्दार्थ—सक्कच्च = सत्कार करके। नमस्सेय्य = नमस्कार करे। अग्गिहुत्तं = अग्निहोत्र।

अनुवाद—जिससे सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म को जाने (उसका) सत्कार कर उसे नमस्कार करे। जैसे ब्राह्मण अग्निहोत्र को (नमस्कार करता है)।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—जटिल ब्राह्मण]

३९३. न जटाहि न गोत्तेन, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चं च धम्मो च, सो सुखी सो च ब्राह्मणो ॥११॥

अनुवाद—न जटाओं से, न गोत्र से (और) न जाति (जन्म) से (ही) कोई ब्राह्मण होता है। जिसमें सत्य है और धर्म है, वह सुखी है और वही ब्राह्मण है।

[स्थान—कूटागारसाला (वेसाली), व्यक्ति—वग्गुलिवत कुहक ब्राह्मण[1]]

३९४. किं ते जटाहि दुम्मेध, किं ते अजिनसाटिया।
अब्भन्तरं ते गहनं, बाहिरं परिमज्जसि ॥१२॥

अनुवाद—अरे दुर्बुद्धि! तेरी जटाओं से क्या? तेरी मृगचर्म की धोती से क्या? तेरा हृदय गहन है, बाहर क्या धोता है?

[स्थान—गिज्झकूट, व्यक्ति - किसा गोतमी[2]]

३९५. पंसुकूलधरं जन्तुं, किसं धमनिसन्थतं।
एकं वनस्मि झायन्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१३॥

शब्दार्थ—पंसुकूलधरं = रज का ढेर धारण करने वाले। मैक्सम्यूलर ने 'Who wears dirty raiments' (गन्दे वस्त्र धारण करने वाला) अर्थ किया है। किसं = कृश। धमनिसन्थतं = धमनियों का जाल।

---

१. बगुला के समान पाखण्डी। कुहक = कौशिक (छिपा हुआ धन बताने वाला।) २. सा०—गोमती।

अनुवाद—बहुत-सी रज धारण करने वाले, कृश, (उभरी हुई) धमनियों के जाल वाले, वन में अकेले ध्यान करने वाले उस प्राणी को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

विशेष—मैक्सम्यूलर की निम्न टिप्पणी चिन्तनीय है—

"It looks more like a Brahmanic than like a Buddhist phrase.

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—एक ब्राह्मण]

३९६. न चाहं ब्राह्मण ब्रूमि, योनिज मत्तिसम्भव।
भोवादी नाम सो होति, स चे होति सकिञ्चिनो।
अकिञ्चनं अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१४॥

शब्दार्थ—मत्तिसम्भवं—माता से उत्पन्न को। भोवादी—'अरे' कहने वाला। कनछेदी लाल गुप्ता द्वारा किया गया "भो शब्द से सम्बोधन करने योग्य है" यह अर्थ एकदम अनर्गल है। ए० के० नारायण द्वारा किया गया अनुवाद "लोग (भले ही) उसे (सम्मानपूर्वक) भी कह कर पुकारें" तो भूल से सर्वथा विपरीत है। मैक्सम्यूलर द्वारा किया गया अर्थ "He is indeed arrogant" (अहंकारी) मूल भाव के अति निकट मालूम पड़ता है। सकिञ्चनो—संग्रही।

अनुवाद—(ब्राह्मण) योनि में उत्पन्न वाले अथवा (ब्राह्मण) माता से उत्पन्न (व्यक्ति) को मैं ब्राह्मण नहीं कहता। वह (तो) अहंकारी होता है और संग्रही होता है। (जो) अकिञ्चन और लेने की इच्छा न करने वाला है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—उग्गसेन सेट्ठिपुत्त]

३९७. सब्बसयोजनं छेत्वा, यो वे न परितस्सति।
सङ्गातिगं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१५॥

शब्दार्थ—परितस्सति—भयभीत होता है (सं परित्रस्यति)।

अनुवाद—सभी सयोजनों (बन्धनों) को काटकर जो भयभीत नहीं होता, संग और आसक्ति से विरत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

[स्थान जेतवन, व्यक्ति—द्वे ब्राह्मण]

३९८. छेत्वानन्दि वरत्तं च, सन्दानं[1] सहनुक्कमं।
अक्खित्त पलिघं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१६॥

शब्दार्थ—नन्दि—लौकिक सुखों को। 'नद्धि' पाठ होने पर नाथ (द्वेष) अर्थ लेना होगा। वरत्त—रस्सी को (सं० वरत्राम्) अर्थात् राग को। सन्दान बन्धन अर्थात् मोह को। सहनुक्कमं=जाल (मुछीका) सहित। उक्खित्त पलिघं =अर्गला (अविद्या) को फेंक दिया है जिसने।

अनुवाद—(लौकिक) आनन्द को, (रागरूपी) रस्सी को, जाल सहित (मोहरूपी) बन्धन को काट कर (अविद्यारूपी) अर्गला को फेंक देने वाले बुद्ध को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

विशेष—प्रस्तुत गाथा में 'अबुद्ध' को अच्छन्नरूप से 'पशु' कल्पित किया गया है। पशुनाथ,[2] रस्सी, मुछीका और अर्गला (शृंखला या जुआ) से बंधा रहता है इनसे पृथक् होने पर ही वह सुख का अनुभव करता है। इसी प्रकार मनुष्य भी लौकिक सुखों की रस्सी में बधा हुआ है, उसके मुख पर भी कपड़ा बंधा रहता है[3], राग, द्वेष, मोह का कठोर बन्धन है, अविद्यारूपी अर्गला उस बन्धन को और सुदृढ बना देती है। अतः इन सभी से विरक्त और प्रबुद्ध—पूर्णतया ज्ञानी व्यक्ति ही 'ब्राह्मण' कहलाने का अधिकारी है।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—अक्कोसक भारद्वाज]

३९९. अक्कोस बधबन्धं च, अदुट्ठो यो तितिक्खति।
खन्तीवल बलानीकं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मण ॥१७॥

शब्दार्थ—अक्कोस=आक्रोश को। बधबन्धं च=वध और बन्धन को। खन्तीवल—क्षान्ति (क्षमा) बल को। बलानीकं=उसी बल की सेना वाले को।

अनुवाद—जो दुष्ट नहीं है (वह) आक्रोश (गाली), वध और बन्धन को सहन कर लेता है। क्षमा ही है बल जिसका, (तथा) वही बल जिसकी सेना है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

---

१. सा०—सन्दामम्, २. बैल की नाक की रस्सी।
३. जैन साधु मुख पर श्वेत वस्त्र की पट्टी बांधते हैं आजकल सरदार लोग भी दाढ़ी की सुरक्षा के लिये उस पर कपड़े की पट्टी लपेटते हैं।

[स्थान—वेणुवन; व्यक्ति—सारिपुत्त थेर]

४००. अक्कोधनं वतवन्तं, सीलवन्तं अनुस्सुतं[1] ।
दन्तं अन्तिमसारीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१८॥

अनुवाद—जो क्रोध न करने वाला, व्रती, शीलवान्, अनुश्रुत, दान्त (संयमी) और अन्तिम शरीर वाला है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

[स्थान—जेतवन[2], व्यक्ति—उप्पलवण्णा थेरी]

४०१. वारि पोक्खरपत्ते व, आरग्गेरिव सासपो ।
यो न लिप्पति[3] कामेसु, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१९॥

शब्दार्थ—पोक्खरपत्ते=पुष्कर पत्र पर । आरग्गेरिव=आरे के अग्रभाग पर, इव=जैसे । सासपो=सरसों ।

अनुवाद—कमल के पत्ते पर जल की तरह (और) आरे के अग्रभाग पर सरसों की तरह जो कामों में लिप्त नहीं होता, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं ।

[स्थान—जेतवन,—व्यक्ति—अञ्ञतर ब्राह्मण]

४०२ यो दुक्खस्स पजानाति, इधेव खयमत्तनो ।
पन्नभारं विसयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२०॥

शब्दार्थ—पजानाति=जानता है । पन्नभारं=भार फेंक देने वाले को । "ओहितखन्धभारं"—बुद्धघोषः ।

अनुवाद—जो अपने दुख का विनाश यहीं जान लेता है और जिसने (अविद्यारूपी) भार को उतार फेंका है तथा आसक्ति रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं ।

[स्थान—गिज्झकूट पब्बत, व्यक्ति—खेमा भिक्खुनी]

४०३. गम्भीरपञ्ञं मेधाविं, मग्गामग्गस्स कोविदं ।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२१॥

अनुवाद—(जो) गम्भीर प्रज्ञा वाला, मेधावी, मार्ग और अमार्ग को जानने वाला तथा उत्तम अर्थ को प्राप्त हो चुका है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं ।

---

१. ना०—अनुस्सुदं ।   २. सा०—राजगृह (वेणवन) ।
३. ना० लिम्पति ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—पब्भारवासी तिस्स थेर]

४०४. असंसट्ठं गहट्ठेहि. अनागारेहि चूभयं ।
अनोकसारिं अप्पिच्छं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२२॥

शब्दार्थ—असंसट्ठं = असम्पृक्त (सं० असंसृष्टम्) । गहट्ठेहि = गृहस्थों से । अनागारेहि = गृहविहीनों से । अनोकसारिं = बिना ठिकाने घूमने वाले को । अप्पिच्छं = अल्प इच्छा वाले को ।

अनुवाद– गृहस्थ और गृहविहीन—दोनों ही से जो असम्पृक्त है, जो बिना ठिकाने घूमता है, अल्प इच्छाओं वाला है, उसे मै ब्राह्मण कहता हूँ ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतर भिक्खु

४०६. निधाय दण्डं भूतेसु, तसेसु थावरेसु च ।
यो न हन्ति न घातेति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२३॥

शब्दार्थ—तसेसु = चर प्राणियों में । थावरेसु = स्थावर अर्थात् अचर प्राणियों में । मैक्सम्यूलर ने 'Feeble or strong' (निर्बल, और शक्ति सम्पन्न) अर्थ किया है ।

अनुवाद—जो चर अचर (सभी) प्राणियों में दण्ड का प्रयोग नहीं करता (और) न मारता है तथा न मारने की प्रेरणा देता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—चत्तारो सामणेरा]

४०६. अविरुद्धं विरुद्धेसु, अत्तदण्डेसु निब्बुतं ।
सादानेसु अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२४॥

अनुवाद—जो विरोधियों के बीच में अविरुद्ध. दण्डधारियों के बीच में (दण्ड से) निर्वृत और संग्रह करने वालों के बीच में असंग्रही है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—महापन्थक थेर]

४०७. यस्स रागो च दोसो च, मानो मक्खो च पातितो ।
सासपोरिव आरग्गा, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२५॥

अनुवाद—जिसका राग, द्वेष, मान और म्रक्ष (दम्भ) आरं के अग्रभाग से सरसों के समान गिरा दिये गये हैं—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—पिलिन्दवच्छ थेर]

४०८ अकक्कसं विञ्ञापनिं, गिरं सच्चमुदीरये ।
याव नाभिसजे किञ्चि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२६॥

शब्दार्थ—विञ्ञापनिं = विज्ञापनी अर्थात् ज्ञानवर्द्धक । नाभिसजे = पीड़ा न पहुंचे (सं० न अभिषजेत) ।

अनुवाद—जो कोमल, ज्ञानवर्धक (और) सत्य वाणी बोले जिससे कुछ भी पीड़ा न पहुंचे, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अञ्ञतर थेर]

४०९. यो, घ दीघं व रस्सं वा, अणुं थूलं सुभासुभं ।
लोके अदिन्नं नादियति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२७॥

अनुवाद—इस लोक में जो बड़ी, छोटी, सूक्ष्म, स्थूल, शुभ या अशुभ न दी गयी (वस्तु) को नहीं लेता, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति-सारिपुत्त थेर]

४१०. आसा यस्स न विज्जन्ति, अस्मिंलोके परम्हि च ।
निरासयं विसयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२८॥

अनुवाद—जिसकी आशायें इस लोक में और परलोक में (भी) नहीं हैं (और जो) आशारहित (एवं) आसक्ति रहित है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं ।

[स्थान – जेतवन, व्यक्ति–महामोग्गल्लान थेर]

४११. यस्सालया न विज्जन्ति, अञ्ञाय अकथंकथी ।
अमतोगधं अनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२९॥

शब्दार्थ—आलया = तृष्णायें । अञ्ञाय—जानकर (सं० आज्ञाय) । अकथंकथी = न कही हुई को कहने वाला । बुद्धघोष ने 'संशयरहित' अर्थ किया है लेकिन मैक्समूलर की यह टिप्पणी भी ध्यान देने योग्य है—

From our passage, however, it seems as if कथंकथा was a noun derived from कथंकथयति, 'to say How how ?' So that neither the first nor the second element had

anything to do with Kath, 'to relate, and in that ease अकथं too, ought to be taken in the sense of 'without a why.' अमतोगधं = अगाध अमृतत्व ।

अनुवाद—जिसकी तृष्णायें नहीं हैं, (जो) जानकर न कही हुई (बात) को कहने वाला है, (और) अगाध अमृत्व को प्राप्त हो चुका है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ ।

[स्थान—पुब्बाराम (सावत्थी), व्यक्ति—रेवत[1] थेर]

४१२. यो, ध पुञ्ञञ्च पापञ्च, उभो सङ्ग मुपच्चगा ।
अशोकं विरजं सुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३०॥

अनुवाद—जो इस संसार में पुण्य और पाप—दोनों के संयोग (आसक्ति) को छोड़ चुका है, (जो) शोक रहित, निर्मल (और) शुद्ध (है) मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—चन्दाम थेर]

४१३. चन्दं, व विमल सुद्धं, विप्पसन्नमनाविलं ।
नन्दीभवपरिक्खीणं, तमह ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३१॥

शब्दार्थ—अनाविलं = निष्कलंक । नन्दीभवपरिक्खीणं = संसार के आनन्द पूरी तरह नष्ट हो गये हैं जिससे उसे ।

अनुवाद—चन्द्रमा के समान विमल, शुद्ध, प्रसन्न और निष्कलंक को तथा जिसके सांसारिक आनन्द पूरी तरह नष्ट हो गये हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

[स्थान—कुण्डकोलिय (कुण्डधान वन) व्यक्ति—सीवलि थेर]

४१४. यो[2] इम पलिपथं दुग्गं संसारं मोहमच्चगा ।
तिण्णो पारगतो[3] झायी, अनेजो अकथङ्कथी ।
अनुपादाय निब्बुतो, तमह ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३२॥

शब्दार्थ— पलिपथं = उल्टे रास्ते को । मोहमच्चगा = मोहम् + अत्यगात् । अनेजो = निडर, 'Free from dobuts' मैक्सम्यूलर ।

---

१. सा०—जेवत थेर । २. अ०—योम । ३. पारङ्गतो ।

अनुवाद —जो इस दुर्गम संसार के मोहपूर्ण उल्टे रास्ते को पार कर चुका है, जो इस भवसागर को) पार कर चुका है, उसके उस पार पहुँच गया है जो ध्यानी निडर और कही हुई बात को कहने वाला है तथा अनासक्त और निवृत है. मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—सुन्दरसमुद्द थेर]

४१५. यो' ध कामे पहत्वान, अनागारो परिब्बजे।
कामभवपरिक्खाण तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३३॥

अनुवाद—जो यहां कामों को छोड़कर, गृह-विहीन हो परिब्राजक हो जाता है (जिसके) काम (भोग) और जन्म नष्ट हो गये हैं, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—जोतिक थेर[1]]

४१६ यो' ध तण्हं पहत्वान, अनागारो परिब्बजे।
तण्हाभवपरिक्खीण, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं[2] ॥३४॥

अनुवाद जो यहाँ तृष्णा को छोड़कर, गृह-विहीन हो परिब्राजक हो जाता है (जिसकी) तृष्णा और जन्म नष्ट हो गये है मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—एक नटपुत्तक]

४१७. हित्वा मानुसकं योगं दिब्बं योगं उपच्चगा।
सब्बयोगविसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३५॥

अनुवाद—मानुषिक योग (आसक्ति) को छोड़कर दिव्य योग को (भी) दूर कर (जो) सभी योगों (आसक्तियों से असम्पृक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४१८. हित्वा रतिञ्च अरतिञ्च, सीतिभूतं निरूपधिं।
सब्बलोकाभिभुं वीरं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३६॥

शब्दार्थ - सीतिभूतं = शान्त (सं० = शीतीभूतम्)। निरूपधि = उपाधि (क्लेश) रहित।

---

१. सा०—जटिल थेर। २. अट्ठकथाय पन अयं गाथा द्विक्खत्तुं दिस्सति— जटिलत्थेरवत्थुस्मि जोतिकत्थेरवत्थुस्मि च। अतो मरम्मपोत्थके तु तथेव आगता"—नालन्दा संस्करण से साभार उद्धृत।

अनुवाद—जो राग और वैराग्य को छोड़कर, शान्त हुआ, क्लेश रहित (और) सभी लोकों को जीतने वाला वीर है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

[स्थान—जेतवन[1], व्यक्ति—वगसि थेर]

४१६. चुतिं यो वेदि सत्तानं, उपपत्तिं च सब्बसो।
असत्तं सुगतं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।३७।।

अनुवाद—जो सत्वों की च्युति (विनाश) और उत्पत्ति को सभी प्रकार से जानता है (और) जो आसक्ति रहित, सुगत और बुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४२०. यस्स गतिं न जानन्ति, देवा गन्धब्बमानुसा।
खीणासवं अरहन्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।३८।।

अनुवाद—जिसकी गति को देवता, गन्धर्व (और) मनुष्य नहीं जानते हैं (तथा जो) क्षीणासव और अर्हत् है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

[स्थान—वेणुवन, व्यक्ति—धम्मदिन्ना भिक्खुनी]

४२१. यस्स पुरे च पच्छा च, मज्झे च नत्थि किञ्चनं।
अकिञ्चनं अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।३९।।

अनुवाद—जिसके आगे पीछे अथवा मध्य में कुछ भी नहीं है, उस किञ्चन और अपरिगृही को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—अंगुलिमाल थेर]

४२२. उसभं पवरं वीरं, महेसिं विजिताविनं।
अनेजं नहातकं[2] बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।४०।।

अनुवाद—जो ऋषभ (मनुष्यों में श्रेष्ठ), प्रवर, वीर, महर्षि, विजयी, निडर, स्नातक और बुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

[स्थान—जेतवन, व्यक्ति—देवङ्गिक ब्राह्मण[3]]

४२३. पुब्बे निवासं यो वेदि, सग्गापायञ्च पस्सति।
अथो जातिक्खय पत्तो, अभिञ्ञावोसितो मुनि।
सब्बवोसितवोसानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।४१।।

---

१. सा०—राजगृह (वेणुवन)। २. ना०—न्हातकं।
३. सा—देवहित ब्राह्मण ब्रह्मदेशीय पाठ भी ऐसा ही है।

शब्दार्थ—पुब्बे निवास=पूर्व जन्म। सग्गापायञ्च=स्वर्ग और नरक को। पत्तो=प्राप्त हुआ। अभिञ्ञावोसितो=अभिज्ञा (प्रज्ञा) में व्यवसित (पूर्ण)। सब्बवोसितवोसानं=सर्वव्यवसित (सभी पूर्णताओं) को पूर्ण करने वाले को।

अनुवाद—जो पूर्व जन्म को जानता है, स्वर्ग और नरक को देखता है, जन्म-क्षय को प्राप्त हो चुका है, अभिज्ञा में पूर्ण है, मुनि है (तथा) सभी पूर्णताओं को जिसने पूरा कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

धम्मपदे वग्गानमुद्दानं

यमकप्पमादो चित्तं, पुप्फं बालेन पण्डितो।
अरहन्तो सहस्सं च, पापं दण्डेन ते दस ॥१॥

जरा अत्ता च लोको च, बुद्धो सुखं पियेन च।
कोधो मलं च धम्मट्ठो, मग्गवग्गेन वीसति ॥२॥

पकिण्णं निरयो नागो, तण्हा भिक्खु च ब्राह्मणो।
एते छब्बीसति वग्गा, देसितादिच्चबन्धुना ॥३॥

गाथानमुद्दान

यमके वीसति गाथा, अप्पमादम्हि द्वादस ।
एकादस चित्तवग्गे, पुप्फवग्गम्हि सोलस ॥१॥

बाले च सोलसगाथा, पण्डितम्हि चतुद्दस ।
अरहन्ते दसगाथा, सहस्से होन्ति सोलस ॥२॥

तेरस पापवग्गम्हि, दण्डम्हि दस सत्त च ।
एकादस जरावग्गे, अत्तवग्गम्हि ता दस ॥३॥

द्वादसलोकवग्गम्हि, बुद्धवग्गम्हि ठारस ।
सुखे च पियवग्गे च, गाथायो होन्ति द्वादस ॥४॥

चुद्दस कोधवग्गम्हि, मलवग्गेकवीसति ।
सत्तरस च धम्मट्ठे, मग्गवग्गे सत्तरस ॥५॥

पकिण्णे सोलस गाथा, निरये नागे च चुद्दस ।
छब्बीस तण्हावग्गम्हि, तेवीस भिक्खुवग्गिका ॥६॥

एकतालीसगाथायो, ब्राह्मणे वग्गमुत्तमे ।
गाथा सतानि चत्तारि, तेवीस च पुनापरे ।
धम्मपदे निपातम्हि, देसितादिच्च बन्धुना ति ॥७॥

धम्मपदपालि समत्ता

परिशिष्ट

[अ]

धम्मपदस्थगाथानां संस्कृतच्छाया

[१]

मनः पूर्वङ्गमा धर्मा मनः श्रेष्ठा मनोमयाः ।
मनसा चेत्प्रदुष्टेन भाषते वा करोति वा ॥
तत एनं दुःखमन्वेति चक्रमिव वहतः पदम् ॥१॥
मनः पूर्वङ्गमा धर्मा मनः श्रेष्ठा मनोमयाः ।
मनसा चेत्प्रसन्नेन भासते वा करोति वा ॥
तन एनं सुखमन्वेति छायेवानपायिनी ॥२॥
अक्रुक्षन्मामवधीन्मामजैषन्मिमहार्षीन्मे ।
ये च तदुपनह्यन्ति वैरं तेषां न शाम्यति ॥३॥
अक्रुक्षन्मामवधीन्माम जैषीन् मामहार्षीन्मे ।
ये तत्रोपनह्यन्ति वैर तेषूपशाम्यति ॥४॥
न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन ।
अवैरेण च शाम्यन्ति एष धर्मः सनातनः ॥५॥
परे च न विचानन्ति वयमत्र यंस्यामः ।
ये च तत्र विजानन्ति ततः शाम्यन्ति मेधगाः ॥६॥
शुभमनुपश्यन्तं विहरन्तमिन्द्रियेष्वसवृतम् ।
तं वै प्रसहते मारो वातो वृक्षमिव दुर्बलम् ॥७॥
अशुभमनुपश्यन्तं विहरन्तमिन्द्रियेषु सुसंवृतम् ।
भोजने च मात्राज्ञं श्रद्धमारब्धवीर्यम् ।
तं वै न प्रसहते मारो वातः शैलमिव पर्वतम् ॥८॥
अनिष्कषायः काषायं यो वस्त्रं परिधास्यति ।
अपेतो दमसत्याभ्यां न स काषायमर्हति ॥९॥
यश्च वान्तकषायः स्यात् शीलेषु सुसमाहितः ।
उपेतो दमसत्याभ्यां स वै काषायमर्हति ॥१०॥

असारे सारमतय सारे चासारदर्शिनः ।
ते सारं नाधिगच्छन्ति मिथ्यासङ्कल्पगोचराः ॥११॥
सारं च सारतो ज्ञात्वा असारं चासारत्तः ।
ते सारमधिगच्छन्ति सम्यक्सङ्कल्पगोचराः ॥१२॥
यथागारं दुश्छन्नं वृष्टिः, समतिविध्यति ।
एवमभावितं जित्तं रागः समतिविध्यति ॥१३॥
यथागारं सुच्छन्नं वृष्टिर्न, समतिविध्यति ।
एवं सुभावितं चित्त रागो न समति विध्यति ॥१४॥
इह शोचति प्रेत्य शोचति पापकारी उभयत्र शोचति ।
स शोचति स विहन्यते दृष्टा कर्मक्लिष्टमात्मनः ॥१५॥
इह मोदते प्रेत्य मोदते कृतपुण्य उभयत्र मोदते ।
स मोदते स प्रमोदते दृष्ट्वा कर्मविशुद्धिमात्मनः ॥१६॥
इह तप्यति प्रेत्य तप्यति पापकारी उभयत्र तप्यति ।
पापं मया कृतमिति तप्यति भूयस्तप्यति दुर्गति गतः ॥१७॥
इह नन्दति प्रेत्य नन्दति कृतपुण्य उभयत्र नन्दति ।
पुण्यं मया कृतमिति नन्दति भूयो नन्दति सुगति गतः ॥१८॥
बहुमपि चेत्संहितां भाषमाणो, न तत्करो भवति नरः प्रमत्तः ।
गोप इव गा गणयन् परेषां, न भागवान् श्रामण्यस्यं भवति ॥१९॥
अल्पामपि चेत्संहितां भाषमाणो, धर्मस्य भवत्यनुधर्मचारी ।
रागञ्च द्वेषञ्च प्रहाय मोहं, सम्यक्प्रज्ञानः सुविमुक्तचित्तः ॥
अनुपाददानः इह बा परत्र बा, स भागवान् श्रामण्यस्य भवति ॥२०॥

(२)

अप्रमादोऽमृतपदं प्रमादो मृत्योः पदम् ।
अप्रमत्ता न म्रियन्ते ये प्रमत्ता यथा मृताः ॥२१॥
एतं विशेषतो ज्ञात्वा अप्रमादे पण्डिताः ।
अप्रमादे प्रमोदन्ते आर्याणां गोचरे रताः ॥२२॥
ते ध्यायिनो सततं नित्यं दृढपराक्रमाः ।
स्पृशन्ति धीरा निर्वाणं योगक्षेममनुत्तरम् ॥२३॥

उत्थानवतः स्मृतिमतः शुचिकर्मणो निशम्यकारिणः ।
सयतस्य च धर्मजीविनोऽप्रमत्तस्य यशोऽभिवर्द्धते ॥२४॥
उत्थानेनाप्रमादेन संयमेन दमेन च ।
द्वीपं कुर्वीत मेधावी यमोघो नाभिकिरति ॥२५॥
प्रमादमनुयुञ्जन्ति बाला दुर्मेधसो जनाः ।
अप्रमादं च मेधावी धन श्रेष्ठमिव रक्षति ॥२६॥
मा प्रमादमनुयुञ्जीत मा कामरतिसंस्तवम् ।
अप्रमत्तो हि ध्यायन् प्राप्नोति विपुलंसु खम् ॥२७॥
प्रमादं अप्रमादेन यदा नुदति पण्डितः,
प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोकः शोकिनीं प्रजाम् ।
पर्वतस्य इव भूमिस्थान् धीरो बालान् अवेक्षते ॥२८॥
अप्रमत्तः प्रमत्तेषु सुप्तेषु बहुजागरः ।
अबलाश्वमिव शीघ्राश्वो हित्वा याति सुमेधाः ॥२९॥
अप्रमादेन मघवा देवानां श्रेष्ठतां गतः ।
अप्रमादं प्रशंसन्ति प्रमादो गर्हितः सदा ॥३०॥
अप्रमादरतो भिक्षुः प्रमादे भयदर्शी वा ।
संयोजनं अणुं स्थूलं दहन् अग्निरिव गच्छति ॥३१॥
अप्रमादरतो भिक्षुः प्रमादे भयदर्शी वा ।
अभव्यः परिहाणाय निर्वाणस्यैव सन्तिके ॥३२॥

(३)

स्पन्दनं चपलं चित्तं दूरक्ष्यं दुर्निवार्यम् ।
ऋजुं करोति मेधावी इषुकार इव तेजनम् ॥३३॥
वारिज इव स्थले क्षिप्त ओदकोकत उद्भृतः ।
परिस्पन्दत इदं चित्तं मारधेयं प्रहातुम् ॥३४॥
दुर्निग्रहस्य लघुनो यत्रकामनिपातिनः
चित्तस्य दमथः साधु चित्तं दान्तं सुखावहम् ॥३५॥
सुदुर्दर्शं सुनिपुणं यत्रकामनिपाति ।
चित्तं रक्षेत् मेधावी चित्तं गुप्तं सुखावहम् ॥३६॥

दूरङ्गमम् एकयचरम् अशरीरं गूहाशयम् ।
ये चित्त सय्यस्यन्ति मोक्ष्यन्ते मारबन्धनात् ॥३७॥
अनवस्थितचित्तस्य सद्धर्मम् अविजानतः ।
परिप्लवप्रसादस्य प्रज्ञा न परिपूर्यते ॥३८॥
अनवस्रुतचित्तस्य अनन्वाहतचेतसः ।
पुण्यपापप्रहीणस्य नास्ति जाग्रतो भयम् ॥३९॥
कुम्भोपमं कायमिमं विदित्वा, नगरोपमं चित्तमिदं स्थापयित्वा ।
युध्येत मार प्रज्ञायुधेन, जित च रक्षेद् अनिवेशनः स्याद् ॥४०॥
अचिरं बत अयं कायः पृथ्वीम् अधिशेष्यते ।
क्षिप्तोऽपेतविज्ञानो निर्थामिव कलिङ्गरम् ॥४१॥
द्विट्क्षिष यत्कुर्याद् वैरी वा पुनर्वैरिणम् ।
मिथ्याप्रणिहित चित्तं पापीयां समेनं ततः कुर्याद् ॥४२॥
न तद् मातापित्तरौ कुर्याताम् अन्ये चापि च ज्ञातिकाः ।
सम्यक् प्रणिहितं चित्तं श्रेयां समेनं ततः कुर्यद् ॥४३॥

(४)

को इमां पृथिवीं विजेष्यति यमलोकं चेमं सदेवकम् ।
को धर्मपद सुदेशितं कुशलः पुष्पमिव प्रचेष्यति ॥४४॥
शैक्षः पृथिवीं विजेष्यति यमलोकं चेमं सदेवकम् ।
शैक्षो धर्मपदं सुदेशितं कुशलः पुष्पमिव प्रचेष्यति ॥४५॥
फेनोपमं कायमिमं विदित्वा, मरीचिधर्ममभिसम्बुधानः ।
छित्त्वा मारस्य प्रपुष्पकाणि, अदर्शनं मृत्युराजस्य गच्छेत् ॥४६॥
पुष्पाणि ह्येव प्रचिन्वन्तं व्यासक्तमनसं नरम् ।
सुप्तं ग्राम महौघ इव मृत्युरादाय गच्छति ॥४७॥
पुष्पाणि ह्येव प्रचिन्वन्तं व्यासक्तमनसं नरम् ।
अतृप्तमेव कामेषु अन्तकः कुरुते वशम् ॥४८॥
यथापि भ्रमरः पुष्पं वर्णगन्धमहेठमानः ।
पलायते रसमादाय एवं ग्रामे मुनिश्चरेत् ॥४९॥

न परेषां विलोमनि न परेषां कृताकृतम् ।
आत्मन एव अवेक्षेत कृतानि-अकृतानि च ॥५०॥
यथापि रुचिरं पुष्पं वर्णवद् अगन्धकम् ।
एवं सुभाषिता वाग् अफला भवति अकुर्वतः ॥५१॥
यथापि रुचिर पुष्प वर्णवत् सगन्धकम् ।
एवं सुभाषिता वाक् सफला भवति कुर्वतः ॥५२॥
यथापि पुष्पराशेः कुर्यान् मालागुणान् बहून् ।
एवं जातेन मर्त्येन कर्त्तव्य कुशल बहु ॥५३॥
न पुष्पगन्धः प्रतिवातमेति न चन्दनं तगर मल्लिका वा ।
सतां च गन्धः प्रतिवातमेति सर्वा दिशः सत्पुरुषः प्रवाति ॥५४॥
चन्दनं तगर वापि उत्पलमथ वार्षिका ।
एतेशां गन्धजातानां शीलगन्धोऽनुत्तरः ॥५५॥
अल्पमात्रोऽयं गन्धो योऽयं तगरचन्दनो ।
यश्च शीलवतां गन्धो वाति देवेषु उत्तमः ॥५६॥
तेषां सम्पन्नशीलानमाम् अप्रमाद विहारिणाम् ।
सम्यगज्ञाविमुक्तानां मारो मार्गं न विन्दति ॥५७॥
यथा सङ्कारधाने उज्झिते महापथे ।
पद्मं तत्र जायेत शुचिगन्धं मनोरमम् ॥५८॥
एवं सङ्कारभूते अन्धभूते पृथग् जने ।
अतिरोचते प्रज्ञया सम्यक् सम्बुद्धश्रावकः ॥५९॥

(५)

दीर्घा जाग्रतो रात्रिः दीर्घं श्रान्तस्य योजनम् ।
दीर्घो बालानां ससारः सद्धर्मम् अविजानताम् ॥६०॥
चरंश्चेत् नाधिगच्छेत् श्रेयांसं सदृशमात्मन ।
एकचर्यां दृढां कुर्यात् नास्ति बाले सहायता ॥६१॥
पुत्राः मे सन्ति धनं मेऽस्ति इति बालो विहन्यते ।
आत्मा हि आत्मनो नास्ति कुतः पुत्राः कुतो धनम् ॥६२॥

यो बालो मन्यते बाल्यं पण्डितो वापि तेन सः ।
बालश्च पण्डितमानी स वै बाल इत्युच्यते ॥६३॥
यावज्जीवम् अपि चेद् बालः पण्डितं पर्युपास्ते ।
न स धर्मं विजानाति दर्वी सूपरसं यथा ॥६४॥
मुहूर्तमपि चेद् विज्ञः पण्डितं पर्युपास्ते ।
क्षिप्रं धर्मं विजानाति जिह्वा सूपरसं यथा ॥६५॥
चरन्ति बाला दुर्मेधस. अमित्रेणेव आत्मना ।
कुर्वन्तः पापकं कर्म यद् भवति कटुकफलम् ॥६६॥
न तत् कर्म कृतं साधु यत्कृत्वा अनुतप्यते ।
यस्य अश्रुसखो रुदन् विपाकं प्रतिसेवते ॥६७॥
तच्च कर्म कृतं साधु यत्कृत्वा नानुतप्यते ।
यस्य प्रतीतः सुमनो विपाकं प्रतिसेवते ॥६८॥
मधु इव मन्यते बालो यावत् पापं न पच्यते ।
यदा च पच्यते पापम् अथ बालो दुःखं निगच्छति ॥६९॥
मासे मासे कुशाग्रेण भञ्जीत भोजनम् ।
न स संख्यातधर्माणां कलाम् अर्हति षोडशीम् ॥७०॥
न हि पापं कृतं सद्यः क्षीरम् इव मुञ्चति ।
दहन् बालम् अन्वेति भस्मच्छन्न इव पावकः ॥७१॥
यावदेव अनर्थाय ज्ञप्तं बालस्य जायते ।
हन्ति बालस्य शुक्लांशं मूर्द्धानमस्य विपातयन् ॥७२॥
असतां भावनमिच्छेत् पुरस्कारं च भिक्षुषु ।
आवासेषु च ऐश्वर्यं पूजां परकुलेषु च ॥७३॥
ममैव कृतं मन्येतां गृहिप्रव्रजितो उभौ ।
ममैव अतिवशौ स्यातां कृत्याकृत्येषु कस्मिश्चित् ।
इति बालस्य संकल्प इच्छा मानश्च वर्द्धते ॥७४॥
अन्या हि लाभोपनिश्रेणी अन्या निर्वाणगामिनी,
एवम् एतद् अभिज्ञाय भिक्षु बुद्धस्य श्रावकः ।
सत्कारं नाभिनन्देद् विवेकम् अनुबृंहयेत् ॥७५॥

(६)

निधीनाम् इव प्रवक्तारं यं पश्येद् वर्ज्यदर्शिनम्,
निगृह्यवादिनं मेधाविनं तादृशं पण्डितं भजेत् ।
तादृशं भजमानस्य श्रेयो भवति न पापीयः ।।७६।।
अववदेद् अनुशिष्यात् असभ्याच्च निवारयेत् ।
सतां हि स प्रियो भवति असतां भवति अप्रिय. ।।७७।।
न भजेत् पापकानि मित्राणि न भजेत् पुरुषाधमान् ।
भजेत् मित्राणि कल्याणानि भजेत पुरुषोत्तमान् ।।७८।।
धर्मंपीती सुखं शेते विप्रसन्नेन चेतसा ।
आर्यप्रवेदिते धर्मे सदा रमते पण्डितः ।।७९।।
उदकं हि नयन्ति नेतृका इषुकारा नमयन्ति तेजनाम् ।
दारु नमयन्ति तक्षका आत्मानं दमयन्ति पण्डिताः ।।८०।।
शैलो यथैकघनो वातेन न समीर्यते ।
एवं निन्दाप्रशंसासु न समीज्यन्ते पण्डिताः ।।८१।।
यथापि ह्रदो गम्भीरो विप्रसन्नोऽनाविलः ।
एवं धर्मान् श्रुत्वा विप्रसीदन्ति पण्डिताः ।।८२।।
सर्वत्र वै सत्पुरुषाः चकन्ति न कामकामालपन्ति सन्तः ।
सुखेन स्पृष्टा अथवा दुःखेन नोच्चावच पण्डिता दर्शयन्ति ।।८३।।
नात्महेतोर्नपरस्यहेतोर्नपुत्रमिच्छेन्न धनं न राष्ट्रम् ।
नेच्छेदधर्मेण समृद्धिमात्मनः सशीलवान् प्रज्ञावान् धार्मिकः स्यात् ।।८४।।
अल्पकास्ते मनुष्येषु ये जनाः पारगामिनः ।
अथ इयं इतरा प्रजा तीरमेवानुधावति ।।८५।।
ये च खलु सम्यग् अख्याते धर्मे धर्मानुवर्तिनः ।
ते जनाः पारमेष्यन्ति मृत्युधेयं सुदुस्तरम् ।।८५।।
कृष्णं धर्मं विप्रहाय शुक्लं भावयेत् पण्डितः ।
ओकाद् अनोकम् आगम्य विवेके यत्र दूरमम् ।।८७।।
तत्राभिरतिमिच्छेद् हित्वा कामान् अकिंचनः ।
पर्यवदापयेद् आत्मान चित्तक्लेशैः पण्डितः ।।८८।।

येषां सम्बोध्यङ्गे षु सम्यक् चित्तं सुभावितम् ।
आदानप्रतिनिस्सर्गे अनुपादाय ये रताः ।
क्षीणास्रवा ज्योतिष्मन्तस्ते लोके परिनिर्वृताः ॥८९॥

(७)

गताध्वनः विशोकस्य विप्रमुक्तस्य सर्वथा ;
सर्वग्रन्थप्रहीणस्य परिदाहो न विद्यते ॥९०॥
उद्युञ्जते स्मृतिमन्तो न निकेते रमन्ते ते ।
हंसा इव पल्वलं हित्वा ओदककोकं जहति ते ॥९१॥
येषां सन्निचयो नास्ति ये परिज्ञातभोजनाः ।
शून्यतोऽतिमित्तश्च विमोक्षो येषां गोचरः ।
आकाश इव शकुन्तानां गतिस्तेषां दुरन्वया ॥९२॥
यस्यास्रवाः परिक्षीक्षा आहारे च अनिः सृतः,
शून्यतोऽनिमित्तश्च विमोक्षो यस्य गोचरः ।
आकाश इव शकुन्तानां पद तस्य दुरन्वयम् ॥९३॥
यस्येन्द्रियाणी शमथं गतानि अश्वा यथा सारथिना सुदान्ताः ।
प्रहीणमानस्य अनास्रवस्य देवा अपि तस्मै स्पृहयन्ति तादृशः ॥९४॥
पृथिवीसमो न विरुध्यते इन्द्रकीलोपमस्तादृक् सुव्रतः ।
ह्रद इवापेतकर्दमः संसारा न भवन्ति तादृशः ॥९५॥
शान्तं तस्य मनो भवति शान्ता वाक् च कर्म च ।
सम्यग ज्ञानविमुक्तस्य उपशान्तस्य तादृशः ॥९६॥
अश्रद्धोऽकृतज्ञश्च सन्धिच्छेदश्च यो नरः ।
हतावकाशो वान्ताशः स वै उत्तमपुरुषः ॥९७॥
ग्रामे वा यदि वारण्ये निम्ने वा यदि वा स्थले ।
यत्रार्हन्तो विहरन्ति सा भूमी रमणीयका ॥९८॥
रमणीयानि अरन्यानि यत्र न रमते जनः ।
वीतरागा रंस्यन्ते न ते कामगवेषिणः ॥९९॥

(८)

सहस्रपपि चेद् वाचः अनर्थपदसंहिताः ।
एककर्थपदं श्रेयो यत् श्रुत्वा उपशाम्यति ॥१००॥

सहस्रमपि चेद् गाथा अनर्थपदसंहिताः ।
एकं गाथापदं श्रेयो यत् श्रुत्वा उपशाम्यति ॥१०१॥
यश्च गाथाः शतं भाषेतानर्थपदसंहिताः ।
एकं धर्मपदं श्रेयो यत् श्रुत्वा उपशाम्यति ॥१०२॥
यः सहस्रं सहस्रेण संग्रामे मानुषान् जयेत् ।
एकं च जयेद् आत्मानं स वै संग्रामजिदुत्तमः ॥१०३॥
आत्मा ह वै जितः श्रेयान् या चेयम् इतरा प्रजा ।
आत्मदान्तस्य पुरुषस्य नित्यं संयतचारिणः ॥१०४॥
नैव देवो न गंधर्वो न मारः सह ब्रह्मणा ।
जितम् अपजितं कुर्यात् तथारूपस्य जन्तोः ॥१००५॥
मासे मासे सहस्रेण यो यजेत शतं समाः ।
एकं च भावितात्मानं मुहूर्त्तमपि पूजयेत् ।
सैव पूजना श्रेयसी यच्चेद् वर्षशतं हुतम् ॥१०६॥
यश्च वर्षश जन्तुः अग्नि परिचरेद् बने ।
एकं च भावितात्मानं मुहूर्तमपि पूजयेत् ।
सैय पूजना श्रेयसी यच्चेद् वर्षशतं हुतम् ॥१०७॥
यत्किञ्चिद् इष्टं च हुतं च लोके संवत्सर यजेत पुण्यापेक्षः ।
सर्वमपि तन्न च तुर्भगमेति अभिवादना ऋजुगतेपु श्रेयसी ॥१०८॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धापचायिनः ।
चत्वारो धर्मा वर्धन्ते आयुर्वर्णः सुखं बलम् ॥१०९॥
यश्च वर्षशतं जीवेद् दुःशीलोऽसमाहितः ।
एकाहं जीवितं श्रेयः शीलवती ध्यायिनः ॥११०॥
यश्च वर्षशतं जीवेद् दुष्प्रज्ञोऽसमाहितः ।
एकाहं जीवितं श्रेयः प्रज्ञावतो ध्यायिनः ॥१११॥
यश्च वर्षशतं जीवेद् कुसीदो हीनवीर्यः ।
एकाहं जीवितं श्रेयो वीर्ययारभतो दृढम् ॥११२॥
यश्च वर्षशतं जीवेद् अपश्यन् उदयव्ययम् ।
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यत उदयव्ययम् ॥११३॥

यश्च वर्षशतं जीवेद् अपश्यत् अमृतं पदम् ।
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यतीऽमृतं पदम् ॥११४॥
यश्च वर्षशतं जीवेद् अपश्यन् धर्ममुत्तमम् ।
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यतो धर्ममुत्तमम् ॥११५॥

(६)

अभित्वरेत कल्याणे पापात् चित्तं निवारयेत् ।
तन्द्रां हि कुर्वतः पुण्यं पापे रमते मनः ॥११६॥
पापं चेत् पुरुषः कुर्यात् न तत्कुर्यात् पुनः पुनः ।
न तस्मिन् छन्दं कुर्यात् दुःख पापस्योच्चय. ॥११७॥
पुण्यं चेत् पुरुषः कुर्यात् कुर्याद् एतत् पुनः पुनः ।
तस्मिन् छन्दं कुर्यात् सुखः पुण्यस्योच्चयः ॥११८॥
पापोऽपि पश्यति भद्रं यावत् पापं न पच्यते ।
यदा च पच्यते पापम् अथ पापो पापानि पश्यति ॥११९॥
भद्रोऽपि पश्यति पापं यावद् भद्रं न पच्यते ।
यदा च पच्यते भद्रम् अथ भद्रो भद्राणि पश्यति ॥१२०॥

माऽवमन्येत पापस्य न मां तद् आगमिष्यति ।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भोऽपि पूर्यते ।
बाल पूरयति पापस्य स्तोकं स्तोकमप्याचिन्वन् ॥१२१॥

पाऽवमन्येत पुण्यस्य त मां तदागमिष्यति ।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भोऽपि पूर्यते ।
धीरः पूरयति पुण्यस्य स्तोकं स्तोकमप्याचिन्वन् ॥१२२॥

वाणीज इव भयं मार्गम् अल्पसार्थो महाधनः ।
विषं जीवितुकाम इव पापानि परिवर्जयेत् ॥१२३॥
पाणो चेद् व्रणो न स्यात् हरेत् पाणिना विषम् ।
नाऽव्रणं विषमन्वेति नास्ति पापमकुर्वतः ॥१२४॥
योऽप्रदुष्टाय नराय दुष्यति शुद्धाय पुरुषाय अनंजनाय ।
तमेव बालं प्रत्येति पापं सूक्ष्मं रजः प्रतिवातमिव क्षिप्तम् ॥१२५॥

गर्भमेक उत्पद्यन्ते निरयं पापकर्मिणः ।
स्वर्गं सुगतयो यान्ति परिनिर्वान्ति अनास्रवाः ॥१२६॥
न अंतरिक्षे न समुद्रमध्ये न पर्वतानां विवरं प्रविश्य ।
न विद्यते स जगति प्रदेशो यत्रस्थितो मुच्येत पापकर्मवः ॥१२७॥
न अन्तरिक्षे न समुद्रमध्ये न पर्वतानां विवरं प्रविश्य ।
न विद्यते स जगति प्रदेशो यत्र स्थितं न प्रसहेत मृत्युः ॥१२८॥

(१०)

सर्वे त्रस्यन्ति दण्डस्य सर्वे विभ्यति मृत्योः ।
आत्मानम् उपमां कृत्वा न हन्यात् न घातयेत् ॥१२९॥
सर्वे त्रस्यन्ति दण्डस्य सर्वेषां जीवितं प्रियम् ।
आत्मानम् उपमां कृत्वा न हन्यात् न घातयेत् ॥१३०॥
सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिनस्ति ।
आत्मनः सुखमिच्छन् प्रेत्य स न लभते सुखम् ॥१३१॥
सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन न हिनस्ति ।
आत्मनः सुखमिच्छन प्रेत्य स लभते सुखम् ॥१३२॥
मा वोचः परुषं किञ्चिद् उक्ताः प्रतिवदेयुः त्वाम् ।
दुःखा हि संरम्भकथाः प्रतिदण्डाः स्पृशेयुस्त्वाम् ॥१३३॥
स चेत् न ईरयसि आत्मानं कास्यम् उपहतं यथा ।
एष प्राप्तोऽसि निर्वाणं संरम्भस्ते न विद्यते ॥१३४॥
यथा दण्डेन गोपालो गाः प्राजयति गोचरम् ।
एवं जरा च मृत्युश्च आयुः प्राजयतः प्राणिनाम् ॥१३५॥
अथ पापानि कर्माणि कुर्वन् बालो न बुध्यते ।
स्वैः कर्मभिः दुर्मेधा अग्निदग्ध इव तप्यते ॥१३६॥
यो दण्डेन अदण्डयेषु अप्रदुष्टेषु दुष्यति ।
दशानाम् अन्यतमं स्थानं क्षिप्रमेव निगच्छति ॥१३७॥
वेदनां परुषं ज्यानिं शरीरस्य च भेदनम् ।
गुरुकं वाऽप्याबाधं चित्तक्षेपं वा प्राप्नुयात् ॥१३८॥
राजतो वोपसर्गम् अभ्याख्यानं वा दारुणम् ।
परिक्षयं वा ज्ञातीनां भोगानां वा प्रभंजनम् ॥१३९॥

अथवा अस्यागाराणि अग्निर्दहति पावकः ।
कायस्य भेदाद् दुष्प्रज्ञो निरयं स उपपद्यते ॥१४०॥
न नग्नचर्या न जटा न पङ्काः नानशनं स्थण्डिलशायिका वा ।
रजोजलीयम् उत्कुटिक प्रधानं शोधयन्ति मर्त्यम् अवितीर्णकांक्षम् ॥१४१॥
अलंकृतश्चेदपि शमं चरेत् शान्तो दान्तो नियतो ब्रह्मचारी ।
सर्वेषु भूतेषु निधाय दण्डं स ब्राह्मणः स श्रमणः स भिक्षुः ॥१४२॥
ह्रीनिषेधः पुरुषः कश्चित् लोके विद्यते ।
यो निन्दां अप्रबोधति अश्वो भद्रः कशामिव ॥१४३॥
अश्वो यथा भद्रः कशानिविष्टः आतापिनः संवेगिनो भवत ।
श्रद्धया शीलेन च वीर्येण च समाधिना धर्मविनिश्चयेन च ॥
सम्पन्नविद्याचरणाः प्रतिस्मृताः प्रहास्यथ दुःखमिदमनल्पकम् ॥१४४॥
उदकं हि नयन्ति नेतृका इषुकारा नमयन्ति तेजनम् ।
दारु नमयन्ति तक्षका आत्मानं दमयन्ति सुव्रताः ॥१४५॥

(११)

को नु हासः क आनन्दो नित्यं प्रज्वलिते सति ।
अन्धकारेण अवनद्धाः प्रदीपं न गवेषयथ ॥१४६॥
पश्य चित्रीकृतं विम्बम् अरुष्कायं समुच्छ्रितम् ।
आतुरं बहुसंकल्पं यस्य नास्ति ध्रुवं स्थितिः ॥१४७॥
परिजीर्णमिदं रूपं रोगनीडं प्रभङ्गुरम् ।
भिद्यते पूतिसन्देहो मरणान्तं हि जीवितम् ॥१४८॥
यानि इमानि अपार्थानि अलाबूनि इव शरदि ।
कापोतकानि अस्थीनि तानि दृष्ट्वा का रतिः ॥१४९॥
अस्थ्नां नगरं कृतं मांसलोहितलेपनम् ।
यत्र जरा च मृत्युश्च मानो म्रक्षश्चावहितः ॥१५०॥
जीर्यन्ति वै राजरथाः सुचित्रा अथशरीरमपि जरमुपैति ।
सतां च धर्मो न जरामुपैति सन्तो ह वै सद्भ्यः प्रवेदयन्ति ॥१५१॥
अल्पश्रुतोऽयं पुरुषो बलीवर्द इव जीर्यति ।
मांसानि तस्य वर्धन्ते प्रज्ञा तस्य न वर्धते ॥१५२॥

अनेकजातिसंसारं समधाविषम् अनिविशमानः।
गृहकारं गवेषयन् दुःखा जातिः पुनः पुनः ॥१५३॥
गृहकारक दृष्टोऽसि पुनर्गृहं न करिष्याम्।
सर्वास्ते पार्शिवका भग्ना गृहकूटं विसंस्कृतम्।
विसंस्कारगतं चित्तं तृष्णानां क्षयमध्यगात् ॥१५४॥
अचरित्वा ब्रह्मचर्यं अलब्ध्वा यौवने धनम्।
जीर्णक्रौञ्चा इव ध्यायन्ति क्षीणमत्स्ये इव पल्वले ॥१५५॥
अचरित्वा ब्रह्मचर्यम् अलब्ध्वा यौवने धनम्।
शेरते चापा अतिक्षीणा इव पुराणानि अनुष्टुन्वन् ॥१५६॥

(१२)

आत्मानं चेत् प्रियं जानीयाद् रक्षेद् एनं सुरक्षितम्।
त्रयाणाम् अन्यतमं यामं प्रतिजागृयात् पण्डितः ॥१५७॥
आत्मानमेव प्रथमं प्रतिरूपे निवेशयेत्।
अथ अन्यम् अनुशिष्यात् न क्लिश्येत् पण्डिता ॥१५८॥
आत्मानं चेत्तथा कुर्याद् यथा अन्यमनुशास्ति।
सुदान्तो बत दमयेद् आत्मा हि किल दुर्दमः ॥१५९॥
आत्मा हि आत्मनो नाथः को हि नाथः परः स्यात्।
आत्मना हि सुदान्तेन नाथं लभते दुर्लभम् ॥१६०॥
आत्मना एव कृतं पापं आत्मजम् आत्मसम्भवम्।
अभिमथ्नाति दुर्मेधसं वज्रमिवाश्ममय मणिम् ॥१६१॥
यस्य अत्यन्तदौः शील्यं मालुवा शामिवाततम्।
करोति स तथात्मानं यथैनम् इच्छति द्विट् ॥१२२॥
सुकराणि असाधुनि आत्मनोऽहितानि च।
यद् वै हितं च साधु च तद् वै परमदुष्करम् ॥१६३॥
यः शासनम् अर्हताम् आर्याणां धर्मजीविनाम्।
प्रतिक्रोशति दुर्मेधा दृष्टिं निःश्रित्य पापिकाम्।
फलानि काष्ठकस्येव आत्मघाताय फलति ॥१६४॥

आत्मना हि कृतं पापम् आत्मना संक्लिश्यति ।
आत्मना अकृतं पापम् आत्मनैव विशुध्यति ।
शुद्धिः अशुद्धिः प्रत्यात्मं नान्योऽन्यं विशोधयेत् ॥१६५॥
आत्मनोऽर्थं परार्थेन बहुनापि न हापयेत् ।
आत्मनोऽर्थं परार्थेन बहुनापि न हापयेत् ॥१६६॥

(१३)

हीनं धर्मं न सेवेत प्रमादेन न संवसेत् ।
मिथ्यादृष्टिं न सेवेत न स्याद् लोकवर्धनः ॥१६७॥
उत्तिष्ठेद् न प्रमाद्येत धर्मं सुचरितं चरेत् ।
धर्मचारी सुखं शेते अस्मिन् लोके परत्र च ॥१६८॥
धर्मं चरेत् सुचरितं नैनद् दुश्चरितं चरेत् ।
धर्मचारी सुखं शेते अस्मिन् लोके परत्र च ॥१६९॥
यथा बुद्बुदकं पश्येद् यथा पश्येन्मरीचिकाम् ।
एवं लोकमवेक्षमाणं मृत्युराजो न पश्यति ॥१७०॥
एत पश्येत इमं लोकं चित्रं राजरथोपमम् ।
यत्र बाला विषीदन्ति नास्ति संगो विजानताम् ॥१७१॥
यश्च पूर्वं प्रमाद्य पश्चात् स न प्रमाद्यति ।
स इमं लोकं प्रभासयति अभ्रान्मुक्त इव चन्द्रमाः ॥१७२॥
यस्य पापं कृतं कर्म कुशलेन पिधीयते ।
स इमं लोकं प्रभासयति अभ्रान्मुक्त इव चन्द्रमाः ॥१७३॥
अन्धीभूतोऽयं लोकः तनुकोऽत्र विपश्यति ।
शकुनो जालमुक्त इव अल्पः स्वर्गाय गच्छति ॥१७४॥
हंसा आदित्यपथे यन्ति आकाशे यन्ति ऋद्धिकाः ।
नीयन्ते धीरा लोकात् जित्वा मारं सवाहिनीकम् ॥१७४॥
एकं धर्मम् अतीतस्य मृषावादिनो जन्तोः ।
वितृष्णपरलोकस्य नास्ति पापम् अकार्यम् ॥१७६॥
न वै कदर्याः देवलोकं व्रजन्ति बाला ह वै न प्रशंसन्ति दानम् ।
धीरश्च दानमनुमोदमानः तेनैव स भवति सुखी परत्र ॥१७७॥

पृथिव्या एकराज्यात् स्वर्गस्य गमनाद् वा ।
सर्वं लोकाधिपत्यात् श्रोतापत्तिफलं वरम् ।।१७८।।

(१४)

यस्य जितं नावजीयते जितमस्य न याति कश्चिल्लोके ।
तं बुद्धमनन्तगोचरम् अपदं केन पदेन नेष्यथ ।।१७९।।
यस्य जालिनी विषात्मिका तृष्णा नास्ति कुत्रचित् नेतुम् ।
तं बुद्धमनन्तगोचरम् अपदं केन पदेन नेष्यथ ।।१८०।।
ये ध्यानप्रसृताः धीराः नैष्क्रम्योपशमे रताः ।
देवाः अपि तेभ्यः स्पृहयन्ति सम्बुद्धेभ्यः स्मृतिमद्भ्यः ।
कृच्छ्रो मनुष्यप्रतिलाभः कृच्छ्रं मर्त्यानां जीवितम् ।।१८१।।
कृच्छ्रं सद्धर्मश्रवणं कृच्छ्रो बुद्धानामुत्पादः ।।१८२।।
सर्वपापस्याकरणं कुशलस्योपसम्पदा ।
स्वचित्तपर्यवदापनम् एतद् बुद्धानां शासनम् ।।१८३।।
क्षान्तिः परमं तपः तितिक्षा निर्वाणं परमं वदन्ति बुद्धाः ।
न हि प्रव्रजितः परोपघाती श्रमणो भवति परं विहेडयन् ।।१८४।।
अनपवादोऽनपघातः प्रातिमोक्षे च संवरः ।
मात्राज्ञता च भक्तेः प्रान्ते च शयनासनम् ।
अधिचित्ते च आयोगः एतद् बुद्धानां शासनम् ।।१८५।।
न कार्षापणवर्षेण तृप्तिः कामेषु विद्यते ।
अल्पस्वादाः दुःखाः कामा इति विज्ञाय पण्डितः ।।१८६।।
अपि दिव्येषु कामेषू रतिं स नाधिगच्छति ।
तृष्णाक्षयरतः भवति सम्यक्सम्बुद्धश्रावकः ।।१८७।।
बहु वै शरणं यान्ति पर्वतान् वनानि च ।
आरामवृक्षचैत्यानि मनुष्याः भयतर्जिताः ।।१८८।।
नैतत् खलु शरणं क्षेमं नैतत् शरणमुत्तमम् ।
नैतत् शरणमागम्य सर्वदुःखात् प्रमुच्यते ।।१८९।।
यश्च बुद्धञ्च धर्मञ्च संघञ्च शरणं गतः ।
चत्वारि आर्यसत्यानि सम्यक् प्रज्ञया पश्यति ।।१९०।।

दुःखं दुःखसमुत्पादं दुःखस्य चातिक्रमम् ।
आर्यम् अष्टाङ्गिकं मार्गं दुःखोपशमगामिनम् ।।१९१।।
एतत् खलु शरणं क्षेमम् एतत् शरणमुत्तमम् ।
एतत् शरणमागम्य सर्वदुःखात् प्रमुच्यते ।।१९२।।
दुर्लभः पुरुषाजन्यो न स सर्वत्र जायते ।
यत्र स जायते धीरः तत्कुलं सुखमेधते ।।१९३।।
सुखो बुद्धानामुत्पादः सुखा सद्धर्मदेशना ।
सुखा संघस्य सामग्री समग्राणां तपः सुखम् ।।१९४।।
पूजार्हान् पूजयतो बुद्धान् यदि वा श्रावकान् ।
प्रपञ्चसमतिक्रान्तान् तीर्णशोकपरिद्रवान् ।।१९५।।
तान् तादृशान् पूजयतो निर्वृतान् अकुतोभयान् ।
न शक्यं पुण्यं संख्यातुम् इयन्मात्रमपि केनचित् ।।१९६।।

(१५)

सुसुखं वत जीवामः वैरिषु अवैरिणः ।
वैरिषु मनुष्येषु विहरामोऽवैरिणः ।।१९७।।
सुसुखं बत जीवामः आतुरेषु अनातुराः ।
आतुरेषु मनुष्येषु विहरामोऽनातुराः ।।१९८।।
सुसुखं बत जीवामः उत्सुकेषु अनुत्सुकाः ।
उत्सुकेषु मनुष्येषु विहरामोऽनुत्सुकाः ।।१९९।।
सुसुखं बत जीवामः येषां नो नास्ति किञ्चन ।
प्रीतभक्षा भविष्यामः देवा आभास्वरा यथा ।।२००।।
जयो वैरं प्रसूते दुःखं शेते पराजितः ।
उपशान्तः सुखं शेते हित्वा जयपराजयौ ।।२०१।।
नास्ति रागसमोऽग्निर्नास्ति द्वेषसमः कलिः ।
न सन्ति स्कन्धसदृशाः दुःखाः नास्ति शान्तिपरं सुखम् ।।२०२।।
जिघत्सा परमो रोगः संस्काराः परमाः दुःखाः ।
एतद् ज्ञात्वा यथाभूतं निर्वाणं परमं सुखम् ।।२०३।।
आरोग्यं परमो लाभः संतुष्टिः परमं धनम् ।
विश्वासः परमा ज्ञातिः निर्वाणं परमं सुखम् ।।२०४।।

प्रविवेक रसं पीत्वा रसम् उपशमस्य च ।
निर्दरो भवति निष्पापो धर्मप्रीति रसं पिवन् ॥२०५॥
साधु दर्शनम् आर्याणाम् सन्निवासः सदा सुखः ।
आदर्शनेन बालानां नित्यमेव सुखी स्यात् ॥२०६॥
बालसङ्गतिचारी हि दीर्घमध्वानं शोचति ।
दुःखो बालैः संवासः अमित्रेणेव सर्वदा ।
धीरश्च सुखसंवासः ज्ञातीनामिव समागमः ॥२०७॥
धीरञ्च प्राणञ्च बहुश्रुतञ्च धोरेयशील व्रतवन्तमार्यम् ।
तं तादृशं सत्पुरुषं सुमेधं भजेत नक्षत्रपथमिव चन्द्रमाः ॥२०८॥

(१६)

अयोगे युञ्जन् आत्मानं योगे च अयोजयन् ।
अर्थं हित्वा प्रियग्राही स्पृहयेद् आत्मानुयोगिनम् ॥२०९॥
मा प्रियैः सामागच्छ अप्रियैः कदाचन ।
प्रियाणाम् अदर्शनं दुःखम् अप्रियाणां च दर्शनम् ॥२१०॥
तस्मात् प्रियं न कुर्यात् प्रियापायो हि पापकः ।
ग्रन्थास्तेषां न विद्यन्ते येषां नास्ति प्रियाप्रियम् ॥२११॥
प्रियतो जायते शोकः प्रियतो जायते भयम् ।
प्रियतो विप्रमुक्तस्य नास्तिशोकः कुतो भयम् ॥२१२॥
प्रेमतो जायते शोकः प्रेमतो जायते भयम् ।
प्रेमतो विप्रमुक्तस्य नास्ति शोकः कुतो भयम् ॥२१३॥
रत्याः जायते शोकः रत्याः जायते भयम् ।
रत्या विप्रमुक्तस्य नास्ति शोकः कुतो भयम् ॥२१४॥
कामतो जायते शोकः कामतो जायते भयम् ।
कामतो विप्रमुक्तस्य नास्ति शोकः कुतो भयम् ॥२१५॥
तृष्णाया जायते शोकः तृष्णाया जायते भयम् ।
तृष्णाया विप्रमुक्तस्य नास्ति शोकः कुतो भयम् ॥२१६॥
शीलदर्शनसम्पन्नं धर्मिष्ठं सत्यवादिनम् ।
आत्मनः कर्म कुर्वाणं तं जनं कुरुते प्रियम् ॥२१७॥

छन्दजातोऽनाख्याते मनसा च स्फुटः स्यात् ।
कामेषु च अप्रतिबद्धचित्तो ऊर्ध्वस्रोता इत्युच्यते ॥२१८॥
चिरप्रवासिनं पुरुषं दूरतः स्वस्थमागतम् ।
ज्ञातिमित्राणि सुहृदश्च अभिनन्दन्ति आगतम् ॥२१९॥
तथैव कृतपुण्यमपि अस्माल्लोकात् परं गतम् ।
पुण्यानि प्रतिगृह्णन्ति प्रियं ज्ञातिमिवागतम् ॥२२०॥

(१७)

क्रोधं जह्याद् विप्र जह्यात् मानं संयोजनं सर्वमातिक्रमध्वम् ।
तं नामरूपयोरसज्यमानम् अकिंचनं नानुपतन्ति दुःखानि ॥२२१॥
यो वै उत्पतितं क्रोधं रथं भ्रान्तमिव धारयेत् ।
तमहं सारथिं ब्रवीमि रश्मिग्राह इतरो जनः ॥२२२॥
अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत् ।
जयेत्कदर्यं दानेन सत्येनालीकवादिनम् ॥२२३॥
सत्यं भणेत् न क्रुध्येत् दद्याद् अल्पमपि याचितः ।
एतैः त्रिभिः स्थानैः गच्छेद् देवानामन्तिके ॥२२४॥
अहिंसका ये मुनयो नित्यं कायेन संवृताः
ते यान्ति अच्युतं स्थानं यत्र गत्वा न शोचन्ति ॥२२५॥
सदा जाग्रताम् अहोरात्रम् अनुशिक्षिणाम् ।
निर्वाणम् अधिमुक्तानाम् अस्तं गच्छन्ति आस्रवाः ॥२२६॥
पुराणमेतत् अतुल ! नैतद् अद्यतनम् इव ।
निन्दति तूष्णीमासीनं निन्दन्ति बहुभाणिनम् ।
मितभाणिनमपि निन्दन्ति नास्ति लोके अनिन्दितः ॥२२७॥
ना चाभूत् न च भविष्यति न चैतर्हि विद्यते ।
एकान्तं निन्दितः पुरुषः एकान्तं वा प्रशंसितः ॥२२८॥
यं चेद् विज्ञाः प्रशंसन्तिः अनुविच्य श्वः श्वः
अछिद्रवृत्तिं मेधाविनं प्रज्ञाशीलसमाहितम् ॥२२९॥
निष्कं जम्बूनदस्येव कस्तं निन्दितुमर्हति ।
देवा अपि तं प्रशंसन्ति ब्रह्मणापि प्रशंसितः ॥२३०॥

कायप्रकोपं रक्षेत् कायेन संवृतः स्यात् ।
कायदुश्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरेत् ॥२३१॥
वचः प्रकोपं रक्षेत् वाचा संवृतः स्यात् ।
वचो दुश्चरितं हित्वा वाचा सुचरितं चरेत् ॥२३२॥
मनः प्रकोप रक्षेत् मनसा संवृतः स्यात् ।
मनो दुश्चरितं हित्वा मनसा सुचरितं चरेत् ॥२३३॥
कायेन संवृताः धीराः अथ वाचा संवृताः ।
मनसा संवृता धीरास्ते वै सुपरिसंवृताः ॥२३४॥

(१८)

पाण्डुपलाशमिव इदानीमसि यमपुरुषो अपि च त्वामुपस्थिताः ।
उद्योगमुखे च तिष्ठसि पाथेयमपि च ते न विद्यते ॥२३५॥
स कुरु द्वीपमात्मानः क्षिप्रं व्यायच्छस्व पण्डितो भव ।
निर्धूतमलोऽनंजनो दिव्यमार्यं भूमिम् एष्यसि ॥२३६॥
उपनीतवयाश्चेदानीमसि सम्प्रयातोऽसि यमस्यान्तिकम् ।
वासोऽपि च ते नास्त्यन्तरा पाथेयमपि च ते न विद्यते ॥२३७॥
स कुरु द्वीपमात्मन क्षिप्रं व्यायच्छस्व पण्डितो भव ।
निर्धूतमलोऽनंजनो न पुनः जातिजरे उपैष्यसि ॥२३८॥
अनुपूर्वेण मेधावी स्तोकं स्तोकं क्षणे क्षणे ।
कर्मारो रजतस्येव निर्धमेत मलमात्मनः ॥२३९॥
अयस इव मलं समुत्थितं तत उत्थाय तदेव खादति ।
एवमतिधावनचारिणं स्वानि कर्माणि नयन्ति दुर्गतिम् ॥२४०॥
अस्वाध्यायमला मन्त्रा अनुत्थानमला गृहाः ।
मलं वर्णस्य[1] कौसीद्यं प्रमादो रक्षतो मलम् ॥२४१॥
मलं स्त्रियाः दुश्चरितं मात्सर्यं ददतो मलम् ।
मलं वै पापका धर्मा अस्मिन् लोके परत्र च ॥२४२॥
ततो मलात् मलतरम् अविद्या परमं मलम् ।
एतन्मलं प्रहाय निर्मला भवत भिक्षवः ॥२४३॥

---

१. वसाशुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रमिट् घ्राणकर्णविट् । श्लेष्याश्रुदूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मला ॥ मनु० ५, १३५

सुजीव्यम् अह्लीकेन काकशूरेण ध्वंसिना ।
प्रस्कन्दिना प्रगल्भेन संक्लिष्टेन जीवितम् ॥२४४॥
ह्रीमता च दुर्जीवितं नित्यं शुचिगवेषिणा ।
अलीनेन अप्रगल्भेन शुद्धाजीवेन पश्यता ॥२४५॥
यः प्राणमतिपातयति मृषावादं च भाषते ।
लोके अदत्तमादत्ते परदारांश्च गच्छति ॥२४६॥
सुरामैरेयपानं च यो नरोऽनुयुनक्ति ।
इहैवमेषलोके मूलं खनति आत्मनः ॥२४७॥
एवं भो पुरुष जानीहि पापधर्मा असंयताः ।
मां त्वां लोभोऽधर्मश्च चिरं दुःखाय रन्धतु[1] ॥२४८॥
ददाति वै यथाश्रद्धं यथाप्रसादनं जनः ।
तत्र यो मूको भवति परेषां पानभोजने ॥
न स दिवा वा रात्रौ वा समाधिमधिगच्छति ॥२४९॥
यस्य चैतत् समुच्छिन्नं मूलघात्यं समुद्धतम् ।
स वै दिवा वा रात्रौ वा समाधिमधिगच्छति ॥२५०॥
नास्ति रागसमोऽग्निर्नास्ति द्वेषसमो ग्रहः ।
नास्ति मोहसमं जालम् नास्ति तृष्णासमा नदी ॥२५१॥
सुदर्शं वद्यमन्येषाम् आत्मनः पुनर्दुर्दर्शम् ।
परेषां हि स वद्यानि अवपुनाति यथा बुधम् ॥
आत्मनः पुनश्छादयति कलिमिव कितवात् शठः ॥२५२॥
परवद्यानुपश्यतो नित्यमवध्यानसञ्ज्ञिनः ।
आसवास्तस्य वर्धन्ते आरात् स आसवक्षयात् ॥२५३॥
आकाशे इव पदं नास्ति श्रमणो नास्ति बाह्यतः ।
प्रपञ्चाभिरताः प्रजाः निष्प्रपंचास्तथागताः ॥२५४॥
आकाशे इव पदं नास्ति श्रमणो नास्ति बाह्यतः ।
संस्काराः शाश्वता न सन्ति नास्ति बुद्धानामिञ्जितम् ॥२५५॥

---

१. रन्ध्येताम्—ए० के० नारायण ।

(१९)

न तेन भवति धर्मिष्ठो येनार्थं साहसेन नयेत् ।
तश्चार्थमनर्थं च उभौ निश्चिनुयात् पण्डितः ॥२५६॥
असाहसेन धर्मेण समेन नयते परान् ।
धर्मस्य गुप्तो मेधावी धर्मिष्ठ इति प्रोच्यते ॥२५७॥
न तेन पण्डितो भवति यावता बहुभाषते ।
क्षेमी अवैरी अभयः पण्डित इति प्रोच्यते ॥२५८॥
न तावता धर्मधरो यावता बहुभाषते ।
यश्चाल्पमपि श्रुत्वा धर्मं कायेन पश्यति ।
स वै धर्मधरो भवति यो धर्मान्न प्रमाद्यति ॥२५९॥
न तेन स्थविरः स भवति येनास्य पलितं शिरः ।
परिपक्वं वयस्तस्य मोघजीर्ण इत्युच्यते ॥२६०॥
यस्मिन् सत्यं च धर्मश्चाहिंसा संयमो दमः ।
स वै वान्तमलो धीरः स्थविर इति प्रोच्यते ॥२६१॥
न वाक्करणमात्रेण वर्णपुष्करतया ना ।
साधुरूपो नरो भवति ईर्ष्युको मत्सरी शठः ॥२६२॥
यस्य चैतत् समुच्छिन्नं मूलघात्यं समूहितम् ।
स वान्तदोषो मेधावी साधूरूप इत्युच्यते ॥२६३॥
न मुण्डकेन श्रमणोऽव्रतोऽलीकं भणन् ।
इच्छालोभसमापन्नः श्रमणः किं भविष्यति ॥२६४॥
यश्च शमयति पापानि अणुस्थूलानि सर्वशः ।
शमितत्वाद् हि पापानां श्रमण इति प्रोच्यते ॥२६५॥
न तावता भिक्षुर्भवति यावता भिक्षते परान् ।
विश्वं धर्मं समादाय भिक्षूर्भवति न तावता ॥२६६॥
य इह पुण्यं च पापं च बाहयित्वा ब्रह्मचर्यवान् ।
संख्यया लोके चरति स वै भिक्षुरित्युच्यते ॥२६७॥
न मौनेन मुनिर्भवति मूढरूपोऽविद्वान् ।
यश्च तुलामिव प्रगृह्य वरमादाय पण्डितः ॥२६८॥

पापानि परिवर्जयति स मुनिस्तेन स मुनिः ।
यो मनुते उभौ लोकौ मुनिस्तेन प्रोच्यते ॥२६९॥
न तेनार्यो भवति येन प्राणान् हिनस्ति ।
अहिंसासर्वप्राणानाम् आर्य इति प्रोच्यते ॥२७०॥
न शीलव्रतमात्रेण बाहूश्रुत्येन वा पुनः ।
अथवा समाधिलाभेन विविक्तशयनेन वा ॥२७१॥
स्पृशामि नैष्कर्म्यसुखम् अपृथग्जन् सेवितम् ।
भिक्षो विश्वासं मा पादीः अप्राप्त आस्रवक्षयम् ॥२७२॥

(२०)

मार्गाणाम् अष्टांगिकः श्रेष्ठः सत्यानां चत्वारि पदानि ।
विरागः श्रेष्ठो धर्माणां द्विपदानां च चक्षुष्मान् ॥२७३॥
एष एव मार्गो नास्त्यन्यो दर्शनस्य विशुद्धये ।
एतं हि यूयं प्रतिपद्यध्वं मारस्यैतत् प्रमोहनम् ॥२७४॥
एतं हि यूयं प्रतिपन्ना दुःखस्यान्तं करिष्यथ ।
आख्यातो वै मया मार्ग आज्ञाय शल्यसंस्थानम् ॥२७५॥
युष्माभिः कार्यमातप्यम् आख्यातारः तथागताः ।
प्रतिपन्नाः प्रमोक्ष्यन्ते ध्यायिनो मारबन्धनात् ॥२७६॥
सर्वे संस्कारा अनित्या इति यदा प्रज्ञया पश्यति ।
अथ निर्विन्दति दुःखानि एष मार्गो विशुद्धये ॥२७७॥
सर्वे संस्कारा दुःखा इति यदा प्रज्ञया पश्यति ।
अथ निर्विन्दति दुःखानि एष मार्गो विशुद्धये ॥२७८॥
सर्वे धर्मा अनात्मान इति यदा प्रज्ञया पश्यति ।
उत्थानकालेऽनुत्तिष्ठन् युवा बली आलस्यमुपेतः ॥२७९॥
अथ निर्विन्दति दुःखानि एष मार्गो विशुद्धये ।
संसन्नसंकल्पमनाः कुसीदः प्रज्ञाया मार्गमलसो न विन्दति ॥२८०॥
वाचानुरक्षी मनसा सुसंवृतः कायेन चाकुशलं न कुर्यात् ॥
एतान् त्रीन् कर्मपथान् विशोधयेत् आराधयेत् मार्गमषिप्रवेदितम् ॥२८१॥

योगाद् वै जायते भूरि अयोगाद् भूरिसंक्षयः ।
एतं द्वैधापथं ज्ञात्वा भवाय विभवाय च ।
तथात्मानं निवेशयेद् यथा भूरि प्रवर्धते ॥२८२॥
वनं छिन्धि मा वृक्षं वनतो जायते भयम् ।
छित्वा वनं च वनथं च निर्वना भवत भिक्षवः ॥२८३॥
यावद् हि वनथो न छिद्यते अणुमात्रोऽपि नरस्य नारीषु ।
प्रतिबद्धमना वै तावत् सः वत्सः क्षीरपक इव मातरि ॥२८४॥
उच्छिन्धि स्नेहमात्मनः कुमुदं शारदिकमिव पाणिना ।
शान्तिमार्गमेव बृंहय निर्वाणं सुगतेन देशितम् ॥२८५॥
इह वर्षासु वसिष्यामि इह हेमन्तग्रीष्मयोः ।
इति बालो विचिन्तयति अन्तरायं न बुध्यते ॥२८६॥
तं पुत्रपशुसम्मतं व्यासक्तमनसं नरम् ।
सुप्तं ग्रामं महौघ इव मृत्युरादाय गच्छति ॥२८७॥
न सन्तिपुत्रास्त्राणाय न पिता नापि बान्धवाः ।
अन्तकेनाधिपन्नस्य नास्ति ज्ञातिषु त्राणता ॥२८८॥
एतमर्थवशं ज्ञात्वा पण्डितः शीलसंवृतः ।
निर्वाणगमनं मार्गं क्षिप्रमेव विशोधयेत् ॥२८९॥

[२१]

मात्रासुखपरित्यागात् पश्येच्चेद् विपुलं सुखम् ।
त्यजेत् मात्रासुखं धीरः सम्पश्यन् विपुलं सुखम् ॥२९०॥
परदुःखोपदानेन आत्मनः सुखमिच्छति ।
वैरसंसर्गसंसक्तः वैरात् न स प्रमुच्यते ॥२९१॥
यद्धि कृत्यमपविद्धम् अकृत्यं पुनः करोति ।
उन्मलानां प्रमत्तानां तेषां वर्धन्ते आस्रवाः ॥२९२॥
येषां च सुसमारब्धा नित्यं कायगतास्मृतिः ।
अकृत्यं ते न सेवन्ते कृत्ये सातत्यकारिणः ।
स्मरतां संप्रजानाम् अस्तं गच्छन्त्यास्रवाः ॥२९३॥

मातरं पितरं हत्वा राजानो द्वौ च क्षत्रियौ ।
राष्ट्रं सानुचरं हत्वा अनघो याति ब्राह्मणः ॥२९४॥
मातरं पितरं हत्वा राजानो द्वौ च श्रोत्रियो ।
व्याघ्रं च पंचमं हत्वा अनघो याति ब्राह्मणः ॥२९५॥
सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावकाः ।
येषां दिवा च रात्रौ च नित्यं बुद्धगतास्मृतिः ॥२९६॥
सुप्रबुद्धा प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावकाः ।
येषां दिवा च रात्रौ च नित्यं धर्मगतास्मृतिः ॥२९७॥
सुप्रबुद्धा प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावकाः ।
येषां दिवा च रात्रौ च नित्यं संघगतास्मृतिः ॥२९८॥
सुप्रबुद्धाः प्रफुल्यन्ते सदा गौतमस्रावकाः ।
येषां दिवा च रात्रौ च नित्यं कायगतास्मृतिः ॥२९९॥
सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते सना गौतमश्रावकाः ।
येषां दिवा च रात्रौ च अहिंसायां रतं मनः ॥३००॥
सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावकाः ।
येषां दिवा च रात्रौ च भावनायां रतं मनः ॥३०१॥
दुष्प्रव्रज्यं दुरभिरामं दुरावासं गृहं दुःखम् ।
दुःखोऽसमानसंवासो दुःखानुपतितोऽध्वगः ।
तस्मान्न चाध्वगः स्यान्न च दुःखानुपतितः स्यात् ॥३०२॥
श्रद्धाशीलेनसम्पन्नो यशोभोगसमर्पितः ।
यं यं प्रदेशं भजते तत्र तत्रैव पूजितः ॥३०३॥
दूरे सन्तः प्रकाशन्ते हिमवन्त इव पर्वताः ।
असन्तोऽत्र न दृश्यन्ते रात्रि क्षिप्ता यथा शराः ॥३०४॥
एकासनः एकशय्यः एकश्चरन् अतन्द्रितः ।
एको दमयन् आत्मानं वनान्ते रतः स्यात् ॥३०५॥

[२२]

अभूतवादी निरयमुपैति यो वापि कृत्वा न करोमि चाह ।
उभावपि तौ प्रेत्य समौ भवतो निहीनकर्माणौ मनुजौ परत्र ॥३०६॥

काषायकण्ठा बहवः पापधर्मा असंयताः ।
पापाः पापैः कर्मभिर्निरयं ते उपपेदिरे ॥३०७॥
श्रेयान् अयोगुलो भुक्तस्तप्तोऽग्निशिखोपमः ।
यश्चेद् भुञ्जीत दुःशीलो राष्ट्रपिण्डम संयतः ॥३०८॥
चत्वारि स्थानानि नरः प्रमत्तः आपद्यते परदारोपसेवी ।
अपुण्यलाभं न निकामशय्यां निन्दां तृतीयां निरयं चतुर्थम् ॥३०९॥
अपुण्यलाभश्च गतिश्च पापिका भीतस्य भीतया रतिश्चस्तोकिका ।
राजा च दण्डं गुरूकं प्रणयति तस्मान्नरः परदारान्न सेवेत ॥३१०॥
कुशो यथा दुर्गृहीतो हस्तमेवानुकृन्तति ।
श्रामण्यं दुष्परामृष्टं निरयायोपकर्षति ॥३११॥
यत्किञ्चित् शिथिलं कर्म संक्लिष्टं च यद् व्रतम् ।
शंकास्मरं ब्रह्मचर्यं न तद् भवति महत्फलम् ॥३१२॥
कुर्यात् चेत् कुर्वीततद् दृढमेतत् पराक्रमेत ।
शिथिलो हि परिव्राजको भूय आकिरते रजः ॥३१३॥
अकृतं दुष्कृतं श्रेयः पश्चात् तपति दुष्कृतं ।
कृतं च सुकृतं श्रेयो यत्कृत्वा नानुतप्यति ॥३१४॥
नगरं यथा प्रत्यन्तं गुप्तं सान्तर्वाह्यम् ।
एव गोपयेदात्मानं क्षणो वैं मा उपातिगात् ।
क्षणतीता हि शोचन्ति निरये समर्पिताः ॥३१५॥
अलज्जितव्ये लज्जन्ते लज्जितव्ये न लज्जिताः ।
मिथ्यादृष्टिसमादानाः सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम् ॥३१६॥
अभये अभयदर्शिनो भये चाभयदर्शिनः ।
मिथ्यादृष्टिसमादानाः सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम् ॥३१७॥
अवर्ज्ये वर्ज्यमतयो वर्ज्ये चावर्ज्यदर्शिनः ।
मिथ्यादृष्टिसमादानां सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम् ॥३१८॥
वर्ज्यं च वर्ज्यतो ज्ञात्वा अवर्ज्यं चावर्ज्यतः ।
सम्यग्दृष्टिसमादानाः सत्त्वा गच्छन्ति सुगतिम् ॥३१९॥
अहं नाग इव संग्रामे चापतः पतितं शरम् ।
अतिवाक्यं तितिक्षिष्ये दुःशीलो हि बहुः जनः ॥३२०॥

दान्तं नयन्ति समितिं दान्तं राजाभिरोहति ।
दान्तः श्रेष्ठो मनुष्येषु योऽतिवाक्यं तितिक्षते ॥३२१॥
वरं अश्वतरा दान्ता आजानेयाश्च सैन्धवाः ।
कुञ्जराश्च महानागा आत्मदान्तस्ततो वरम् ॥३२२॥
न हि एतैर्यानैः गच्छेद् अगतां दिशम् ।
यथात्मना सुदान्तेन दान्तो दान्तेन गच्छति ॥३२३॥
धनपालको नाम कुंजरः कटुकप्रभेदनो दुर्निवार्यं ।
बद्धः कवलं न भुङ्क्ते स्मरति नागवनस्य कुंजरः ॥३२४॥
मृद्धो यदा भवति महाघसश्च निद्रायितः संपरिवर्तशायी ।
महावराह इव निवापपुष्टः पुनः पुनः गर्भमुपैति मन्दः ॥३२५॥
इदं पुरा चित्तमचरच्चारिकां यथेच्छं यथाकामं यथासुखम् ।
तदद्याहं निग्रहीष्यामि योनिशो हस्तिनं प्रभिन्नामिवांकुशग्राहः ॥३२६॥
अप्रमादरता भवत स्वचित्तमनुरक्षत ।
दुर्गाद् उद्धरतात्मानं पंके सक्त इव कुंजरः ॥३२७॥
स चेत् लभेत निपक्वं सहायं सार्धं चर साधुविहारिधीरम् ।
अभिभूय सर्वान् परिश्रयान् चरेत् तेनाप्तमनाः स्मृतिमान् ॥३२८॥
न चेत् लभेत निपक्वं सहायं सार्धं चरं साधुविहारिधीरम् ।
राजेव राष्ट्रं विजितं प्रहाय एकश्चरेन्मातंगोऽरण्य इव नागः ॥३२९॥
एकस्य चरितं श्रेयो नास्ति बाले सहायता ।
एकश्चरेन्न च पापानि कुर्याद अल्पोत्सुको मातंगोऽरण्य इव नागः ॥३३०॥
अर्थे जाते सुखाः सहायास्तुष्टिः सुखा या इतरेतरेण ।
पुण्यं सुखं जीवितसंक्षये सर्वस्य दुःखस्य सुखं प्रहाणम् ॥३३१॥
सुखा मात्रीयता लोकेऽथ पित्रीयता सुखा ।
सुखा सामान्यता लोकेऽथ ब्रह्मण्यता सुखा ॥३३२॥
सुखं यावत् जरां शीलं सुखा श्रद्धा प्रतिष्ठिता ।
सुखः प्रज्ञाया प्रतिलाभः पापानाम् अकरणं सुखम् ॥३३३॥

(२४)

मनुजस्य प्रमत्तचारिणस्तृष्णा वर्धते मालुवेव ।
स प्लवतेऽहरहः फलमिच्छन् इव वने वानरः ॥३३४॥

यमेषा साहयति जाल्मी तृष्णा लोके विषात्मिका ।
शोकास्तस्य प्रवर्धन्तेऽभिवृद्धामिव वीरणम् ॥३३५॥
यश्चैता साहयति जाल्मीं तृष्णां लोक दुरत्ययाम् ।
शाकास्तस्माद् प्रपतन्ति उदबिन्दुरिव पुष्करात् ॥३३६॥
तद् वो वदामि भद्रं वो यावन्तोऽत्र समागताः ।
तृष्णाया मूल खनत उषीरार्थीव वीरणम् ।
मा वो नलमिव स्रोत इव मारा भजतु पुनः पुनः ॥३३७॥
यथापि मूलेऽनुपद्रवे दृढ़े छिन्नोऽपि वृक्षः पुनरेव रोहति ।
एवमपि तृष्णानुशयेऽनिहते निवर्तत दुःखमिदं पुनः पुनः ॥३३८॥
यस्य षट्त्रिंशत स्रोतांसि मनः प्रस्रवणानि भृशम् ।
वाहा वहन्ति दुर्दृष्टि संकल्पा रागान सृताः ॥३३९॥
स्रवन्ति सर्वतः स्रोतांसि लतोद्भिद्य तिष्ठति ।
ता च दृष्ट्वा लतां जातां मूल प्रज्ञया छिन्दत ॥३४०॥
सरित स्निग्धाश्च सौमनस्य भवन्ति जन्ताः ।
ते स्रोतः सृताः सुखैषिर्णस्ते वै जातिजरोपगा नराः ॥३४१॥
तृष्णया पुरस्कृताः प्रजाः परिसर्पन्ति शश इव बाधितः ।
संयोजनसंसक्तका दुःखमुपयन्ति पुनः पुनः चिराय ॥३४२॥
तृष्णया पुरस्कृताः प्रज्ञाः परिसर्पन्ति शश इव बाधितः ।
तस्माद् तृष्णां विनादयेद् अकांक्षी विरागमात्मनः ॥३४३॥
यो निर्वनथो वनेऽधिमुक्तो वनमुक्तो वनमेव धावति ।
तं पुद्गलमेव पश्यत मुक्तो बन्धनमेव धावति ॥३४४॥
न तद् दृढं बन्धनमाहुर्धीराः यदायसं दारुजं पर्वजञ्च ।
सारवद् रक्ता मणिकुण्डलेषु पुत्रेषु दारषु च या अपेक्षा ॥३४५॥
एतद् दृढं बन्धनमाहुर्धीरा अवहारिं शिथिलं दुष्प्रमोचम् ।
एतदपि छित्वा परिव्रजन्ति अनपेक्षिणः कामसुखं प्रहाय ॥३४६॥
ये रागरक्ता अनुपतन्ति स्रोतः स्वयं कृतं मर्कटक इव जालम् ।
एतदपि छित्वानुव्रजन्ति धीराः अनपेक्षिणः सर्वदुःखं प्रहाय ॥३४७॥
मुञ्च पुरो मुञ्च पश्चाद् मध्ये मुञ्च भवस्य पारगः ।
सर्वत्र विमुक्तमानसो न पुनः जातिजरामुपेष्यसि ॥३४८॥

वितर्कप्रमथितस्य जन्तोः तीव्ररागस्य शुभानुपश्यतः ।
भूयस्तृष्णा प्रवर्धते एष खलु दृढं करोति बन्धनम् ॥३४९॥
वितर्कोपशमे च यो रतः अशुभं भावयते सदा स्मृतः ।
एष खलु व्यन्तीकरिष्यति एष छेत्स्यति मारबन्धनम् ॥३५०॥
निष्ठां गतोऽसन्त्रासी वीततृष्णोऽनङ्गनः ।
अच्छिनद् भवशल्यानि अन्तिमोऽयं समुच्छ्रयः ॥३५१॥
वीततृष्णोऽनादानो निरुक्तिपदकोविदः ।
अक्षराणां सन्निपातं जानाति पूर्वापराणि च ।
स वै अन्तिमशारीरो महाप्राज्ञो महापुरुष इत्युच्यते ॥३५२॥
सर्वाभिभूः सर्वविदहमस्मि सर्वेषु धर्मेष्वनुपलिप्तः ।
सर्वञ्जहस्तृष्णाक्षये विमुक्तः स्वयमभिज्ञाय कमुद्दिशेयम् ॥३५३॥
सर्वदानं धर्मदानं जयति सर्वरसं धर्मरसो जयति ।
सर्वरतिं धर्मरतिर्जयति तृष्णाक्षयः सर्वदुःखं जयति ॥३५४॥
घ्नन्ति भोगा दुर्मेधस न चेत् पारगवेषिणः ।
भोगतृष्णया दुर्मेधा हन्त्यन्यमिवात्मानम् ॥३५५॥
तृणदोषाणि क्षेत्राणि रागदोषेयं प्रजा ।
तस्माद् हि वीतरागेषु दत्तं भवति महत्फलम् ॥३५६॥
तृणदोषाणि क्षेत्राणि द्वेषदोषेयं प्रजा ।
तस्माद् हि वीतद्वेषेसु दत्त भवति महत्फलम् ॥३५७॥
तृणदोषाणि क्षेत्राणि मोहदोषेयं प्रजा ।
तस्माद् हि वीतमोहेषु दत्तं भवति महत्फलम् ॥३५८॥
तृणदोषाणि क्षेत्राणि इच्छादोषेयं प्रजा ।
तस्माद् हि विगतेच्छेषु दत्तं भवति महत्फलम् ॥३५९॥

(२५)

चक्षुषा संवरः साधुः साधुः श्रोत्रेण संवरः ।
घ्राणेन संवरः साधुः साधुः जिह्वया संवरः ॥३६०॥
कायेन संवरः साधुः साधुः वाचा संवरः ।
मनसा संवरः साधुः साधुः सर्वत्र संवरः ।
सर्वत्र संवृतो भिक्षुः सर्वदुःखात् प्रमुच्यते ॥३६१॥

हस्तसंयतः पादसंयतो वाचा संयतः संयतोत्तमः ।
अध्यात्मरतः समाहितः एकः सन्तुष्टस्तमाहुर्भिक्षम् ॥३६२॥

यो मुखसंयतो भिक्षुः मन्त्रभाणी अनुद्धतः ।
अर्थं धर्मं च दीपयति मधुरं तस्य भाषितुम् ॥३६३॥

धर्मारामो धर्मरतो धर्ममनुविचिन्तयन् ।
धर्ममनुसरन् भिक्षुः सद्धर्मान्न परिहीयते ॥३६४॥

स्वलाभं नातिमन्येत नान्येभ्यः स्पृहयन् चरेत् ।
अन्यभ्यः स्पृहयन् भिक्षुः समाधिं नाधिगच्छति ॥३६५॥

अल्पलाभोऽपि चेद् भिक्षुः स्वलाभं नातिमन्यते ।
तं वै देवाः प्रशंसन्ति शुद्धाजीवम् अतन्द्रितम् ॥३६६॥

सर्वशो नामरूपयोः यस्य नास्ति ममायितम् ।
असति च न शोचति स वै भिक्षुरित्युच्यते ॥३६७॥

मैत्रीविहारी यो भिक्षुः प्रसन्नो बुद्धशासने ।
अधिगच्छेत् पदं शान्तं संस्कारोपशमं सुखम् ॥३६८॥

सिञ्च भिक्षो ! इमां नावं सिक्ता ते लघुत्वमेष्यति ।
छित्त्वा रागञ्च द्वेषञ्च ततो निर्वाणमेष्यसि ॥३६९॥

पञ्च छिद्यात् पञ्च जह्यात् पञ्चोत्तरं भावयेत् ।
पञ्चसंगातिगो भिक्षुः ओघतीर्णं इत्युच्यते ॥३७०॥

ध्यान भिक्षो ! मा प्रमादः मा ते कामगुणे रमतु चित्तम् ।
मा लोहगोलं गिल प्रमत्तः मा क्रन्दीः दुःखमिदमिति दह्यमानः ॥३७१॥

नास्ति ध्यानमप्रज्ञस्य प्रज्ञा नास्ति अध्यायतः ।
यस्मिन् ध्यानं च प्रज्ञा च स वै निर्वाणस्यान्तिके ॥३७२॥

शून्यागारं प्रविष्टस्य शान्तचित्तस्य भिक्षोः ।
अमानुषी रतिर्भवति सम्यग् धर्मं विपश्यतः ॥

यतो यतः सम्मृशति स्कन्धानामुदयव्ययम् ।
लभते प्रीतिप्रामोद्यम् अमृतं तद् विजानताम् ॥३७४॥

तत्रायमादिर्भवतीह प्राज्ञस्य भिक्षोः ।
इन्द्रियगुप्तिः सन्तुष्टिः प्रातिमोक्षे च संवरः ॥३७५॥

मित्राणि भजस्व कल्याणानि शुद्धाजीवान्यतन्द्रितानि ।
प्रति संस्तारवृत्तः स्यात् आचारकुशलः स्यात्।
ततः प्रामोद्यबहुलो दुःखस्यान्त करिष्यति ।।३७६।।

वार्षिका इव पुष्पाणि मार्दवानि प्रमुञ्चति ।
एवं रागञ्च द्वेषञ्च विप्रमुंचत भिक्षवः ।।३७७।।

शान्तकायो शान्तवाक् शान्तिवान् सुसमाहितः ।
वान्तलोकामिषो भिक्षुः उपशान्त इत्युच्यते ।।३७८।।

आत्मना चोदयेद् आत्मानं प्रतिवसेद् आत्मानमात्मना ।
स आत्मगुप्तः स्मृतिमान् सुखं भिक्षा विहरिष्यसि ।।३७९।।

आत्मा हि आत्मनो नाथः आत्मा हि आत्मनो गतिः ।
तस्मात् संयमयात्मानम् अश्व भद्रमिव वाणिजः ।।३८०।।

प्रामोद्यबहुलो भिक्षुः प्रसन्नो बुद्धशासने ।
अधिगच्छेत् पदं शान्तं संस्कारापशमं सुखम् ।।

यो ह वै दहरो भिक्षुः युनक्ति बुद्धशासने ।
स इमं लोकं प्रभासयत्यभ्रात् मुक्त इव चन्द्रमाः ।।३८२।।

(२६)

छिन्धि स्रोतः पराक्रम्य कामान् प्रणुद ब्राह्मण ।
संस्काराणां क्षयं ज्ञात्वाऽकृतज्ञोऽसि ब्राह्मण ।।३८३।।

यदा द्वयोर्धर्मयोः पारगो भवति ब्राह्मणः ।
अथास्य सर्वे संयोगा अस्तं गच्छन्ति जानतः ।।३८४।।

यस्य परम् अपारं वा पारापारं न विद्यते ।
वीतदरं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।३८५।।

ध्यायिन विरजमासीनं कृतकृत्यमनास्रवम् ।
उत्तमार्थमनुप्राप्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।।३८६।।

दिवा तपति आदित्यो रात्रौ आभाति चन्द्रमाः ।
सन्नद्धः क्षत्रियस्तपति ध्यायी तपति ब्राह्मणः ।
अथ सर्वमहोरात्रं बुद्धस्तपति तेजसा ।।३८७।।

वाहितपाप इति ब्राह्मणः समचर्यः श्रमण इत्युच्यते ।
प्रव्राजयन् आत्मनो मलं तस्माद् प्रव्रजितं इत्युच्यते ।।३८८।।

न ब्राह्मणं प्रहरेत् नास्मै मुञ्चेद् ब्राह्मणः ।
धिग् ब्राह्मणस्य हन्तारं ततो धिग् यस्मै मुञ्चति ॥३८९॥

न ब्राह्मणस्यैतदकिंचित् श्रेयः यदा निषेधो मनसा प्रियेभ्यः ।
यतो यतो हिंस्रमनो निवर्तते ततस्ततः शाम्यति एव दुःखम् ॥३९०॥

यस्य कायेन वाचा मनसा नास्ति दुष्कृतम् ।
संवृतं त्रिभिः स्थानैस्तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३९१॥

यस्माद् धर्मं विजानीयात् सम्यक् सम्बुद्धदेशितम् ।
सत्कृत्य तं नमस्येद् अग्निहोत्रमिव ब्राह्मणः ॥३९२॥

नन जटाभिर्न गोत्रेण न जात्या भवति ब्राह्मणः ।
यस्मिन् सत्यं च धर्मश्च स शुचिः स च ब्राह्मणः ॥३९३॥

किं ते जटाभिः दुर्मेधः ! किं ते अजिनशाट्या ।
अभ्यन्तरं ते गहनं बाह्यं परिमार्जयसि ॥३९४॥

पांशुकूलधरं जन्तु कृशं धमनिसन्ततम् ।
एकं वने ध्यायन्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३९५॥

न चाहं ब्राह्मणं ब्रवीमि योनिजं मातृसम्भवम् ।
भोवादी नाम स भवति स वै भवति स किञ्चनः ।
अकिञ्चनमनादानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३९६॥

सर्वसंयोजनं छित्त्वा यो वै न परित्रस्यति ।
सङ्गातिगं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३९७॥

छित्त्वा नन्दिं वरत्रां च सन्दानं सहनुक्रमम् ।
उत्क्षिप्तपरिघं बुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३९८॥

आक्रोशं वधबन्धञ्च अदुष्टो यस्तितिक्षति ।
क्षान्तिबलं बलानीकं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३९९॥

अक्रोधनं व्रतवन्तं शीलवन्तमनुश्रुतम् ।
दान्तम् अन्तिमशरीरं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४००॥

वारि पुष्करपत्र इव आराग्रे इव सर्षपः ।
यो न लिप्यते कामेषु तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४०१॥

यो दुःखस्य प्रजानाति इहैव क्षयमात्मनः ।
पन्नभारं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४०२॥
गम्भीरप्रज्ञं मेधाविनं मार्गामार्गस्य कोविदम् ।
उत्तमार्थम् अनुप्राप्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४०३॥
असंसृष्ट गृहस्थैः अनागारैश्चोभाभ्याम् ।
अनो.ः सारिणम् अल्पेच्छं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४०४॥
निधाय दण्डं भूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च ।
यो न हन्ति न घातयति तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४०५॥
अविरुद्धं विरुद्धेषु आप्तदण्डेषु निर्वृतम् ।
सादानेषु अनादानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४०६॥
तस्य रागश्च द्वेषश्च मानो म्रक्षश्च पातितः ।
सर्षप इवाराग्रात् तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४०७॥
अकर्कशां विज्ञापनीं गिरं सत्यामुदीरयेत् ।
यया नाभिषजेत् किञ्चित् तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४०८॥
य इह दीर्घं वा ह्रस्वं वाणुं स्थूल शुभाशुभम् ।
लोकेऽदत्तं नादत्ते तम्हं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४०९॥
आशाः यस्य न विद्यन्तेऽस्मिन् लोके परत्र च ।
निराशय विसंयुक्त तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४१०॥
यस्यालया न विद्यन्ते आज्ञाय अकथं कथी ।
अमृतागाधम् अनुप्राप्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४११॥
य इह पुण्यं च पाप चोभयोः सगम् उपात्यगात् ।
अशोकं विरजं शुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४१२॥
चन्द्रमिव विमलं शुद्धं विप्रसन्नम् अनाविलम् ।
नन्दीभव[illegible] परिक्षीणं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४१३॥
य इमं प्रतिपथं दुर्गं संसार मोहमत्यगात् ।
तीर्णः पारगतो ध्[illegible]यनेजोऽकथं कथी ।
अनुपादाय निर्वृतः [illegible]महं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४१४॥

य इह कामान् प्रहाय अनागारः परिव्रजेत् ।
कामभवपरिक्षीणं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४१५॥
य इह तृष्णां प्रहाय अनागारः परिव्रजेत् ।
तृष्णाभवपरिक्षीणं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४१६॥
हित्वा मानुषिक योगं दिव्यं योगमुपात्यगात् ।
सर्वयोगविसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४१७॥
हित्वा रतिं च अरतिं च शीतीभूतं निरुपधिम् ।
सर्वलोकाभिभुवं वीरं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४१८॥
च्युतिं यो वेद सत्त्वानाम् उत्पत्तिञ्च सर्वशः ।
असक्तं सुगतं बुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४१९॥
यस्य गतिं न जानन्ति देवाः गन्धर्वमानुषाः ।
क्षीणास्रवमर्हन्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४२०॥
यस्य पुरश्च पश्चाच्च मध्ये च नास्ति किंचन ।
अकिंचनमनादानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४२१॥
ऋषभं प्रवरं वीरं महर्षिं विजितवन्तम्
अनेजं स्नातकं बुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४२२॥
पूर्वनिवासं यो वेद स्वर्गापायं च पश्यति ।
अथ जातिक्षयं प्राप्तोऽभिज्ञाव्यवसितो मुनिः ।
सर्वव्यवसितव्यवसानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४२३॥

———